जीवन दर्शन

वर्ष ६

अङ्क १२

विषय-सूची

विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग विकास की भूमि है ।

जीवन-दर्शन

उद्देश्य

मानव-जाति के सर्वतोमुखी विकास को तथा कर्तव्य-परायणता एवं साधन–निष्ठ जीवन की प्रेरणा देना ।

वर्ष ६] वृन्दावन, दिसम्बर १९७१ [अंक १२

भक्ति-पथ

आदरः परिचर्यायां सर्वांगैरभिवन्दनम्,
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ।
मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्,
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ।
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च,
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ।
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्,
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ।

—श्रीमद्भागवत ११. १९. २१–२४

अर्थ—मेरी सेवा-पूजा में आदर हो, सब अंगों से मुझे (साष्टांग) प्रणाम करे, मेरे भक्तों की पूजा मेरी पूजा से अधिक समझे और सब प्राणियों में मुझे ही देखे ।

अंगों की चेष्टा मेरे लिए ही हो, वाणी से मेरे गुणों का ही गान हो, मन मुझे ही अर्पित रहे और सारी कामनाओं को छोड़ दे ।

मेरे लिए धन, भोग और सुख को त्याग दे तथा यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप जो कुछ करे, मेरे लिए ही करे ।

हे उद्धव, इस प्रकार इन धर्मों को करने से, आत्मनिवेदन (समर्पण) करने वालों की मुझमें भक्ति हो जाती है, फिर उसे अन्य क्या प्राप्त करना रह जाता है ?

[illegible] भक्ति या प्रेम मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। उससे अभिन्न होने पर ही मानव में उसके वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति होती है। ऊपर उद्धृत श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने परम भक्त उद्धव को उसी की प्राप्ति का साधन बताया है। इस साधन का प्रारम्भ होता है 'आत्मनिवेदन' या समर्पण से। आत्मनिवेदन सम्भव होता है श्रद्धा-विश्वास पूर्वक यह स्वीकार कर लेने पर कि भगवान् ही एकमात्र सत्य तत्त्व हैं, उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं—"मत्तः परतरं न किंचिदस्ति"। इस स्वीकृति में यह आस्था निहित ही है कि वे सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं और सर्वसमर्थ हैं। वास्तविक जीवन उन्हीं में हो सकता है; अतः उसके अभिलाषी के लिए उनसे अभिन्न होना आवश्यक होता है, जिसका सर्वसुलभ साधन है आत्मनिवेदन—अपने को उन्हीं सर्वसमथ को अर्पित कर देना। यह आस्था कि भगवान् ही परम तत्त्व हैं और वे अद्वितीय हैं, साधक को समर्पण के लिए बाध्य कर देती है। उसके व्यक्तित्व का अंग-अंग ही नहीं, अणु-अणु उन सारे ऐश्वर्य के एकमात्र आगार के सामने झुक जाता है। यही है वास्तविक समर्पण। साष्टांग दण्डवत—'सर्वांगैरभिवन्दनम्' है उस का वाह्य प्रतीक।

समर्पण का अवश्यंभावी परिणाम यह होता है कि साधक के व्यक्तित्व से ममता निकल जाती है। जो स्वयं अपने को ही किसी को दे डालता है, उसमें ममता या अधिकार-भावना रह ही नहीं सकती। ममता का नाश हो जाने पर साधक में कामनाओं का उठना स्वतः रुक जाता है—'सर्वकामविवर्जनम्'। जो प्राप्त पर से ही अपना सारा अधिकार उठा लेता है, वह अप्राप्त की कामना क्यों करने लगा? ममता-कामना के अभाव में साधक का भगवत्समर्पित अहं निराधार होकर भुने अन्न के समान निर्जीव हो जाता है। उसमें न करने का अभिमान रह जाता है, न भोगने का। ऐसे निर्मम, निष्काम और कर्तृत्वाभिमान रहित साधक से सेवा अपने आप होने लगती है और वह भी होती है, भगवत्पूजा-भाव से—"आदरः परिचर्यायाम्"। साधक का अंग-अंग—कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी उसे कर्म करने के लिए साधन-रूप में मिला है, वह सब—उस पूजामयी सेवा में लग जाता है—'मदर्थेष्वंग चेष्टा।' उसकी वाणी से भगवान् की गुणावली, उनकी महिमा तथा उनकी रसमयी लीला का गान होता है और कानों से इन्हीं का श्रवण।

साधक की रुचि और योग्यता के अनुसार सेवा के अनेक रूप हो

सकते हैं । कुछ भक्त भगवान् के श्री विग्रह के माध्यम से उनकी पूजा में अपना सारा समय तथा अपनी पूरी शक्ति लगाते हैं । दूसरे उनकी मानसी पूजा में लीन रहते हैं । उन्हें पूजा के साथ-साथ ध्यान का भी पूरा लाभ प्राप्त होता है । कुछ अन्य साधक लोक-सेवा के रूप में भगवत् पूजन करते हैं । भगवान् ही सब में व्याप्त हैं या सारा विश्व उन्हीं का रूप है, 'सर्वभूतेषु मन्मतिः'—यह समझकर लोक-सेवा करना उनकी पूजा का उत्तम रूप है । इस प्रकार पूजा के अनेक रूप हो सकते हैं ।

पूजा चाहे जिस रूप में हो, आवश्यक यह है कि भक्त का सारा व्यक्तित्व उसमें लीन हो जाय । लोक-सेवा के रूप में भगवत्पूजा करने से यह बात सहज ही सुलभ हो जाती है । मानव के व्यक्तित्व में जो कुछ है, वह तो समर्पित हो जाने पर भगवान् का हो जाता है, साधक का अपना अस्तित्व केवल भक्तत्व-भाव के रूप में शेष रहता है, चाहे वह दास्य, सख्य आदि का भाव हो या अन्य कोई, जैसे केवल यह कि मैं भगवान् का हूँ । समर्पित व्यक्तित्व को अपने लिए न कोई 'सुख' चाहिए न 'भोग' और न इनकी प्राप्ति का साधन 'अर्थ' ही । अतः ये सब लग जाते हैं सेवा में । भक्त-साधक की सारी प्रवृत्तियों का लक्ष्य हो जाता है सेवा और वे बन जाती है भगवत्पूजार्थ 'पत्र, पुष्प, फल और तोय' । यज्ञ, दान, हवन जप, व्रत और तप आदि जो कुछ वह करता है, वह सब भगवत्पूजा निमित्त ही होता है । उसका खाना, पीना, आदि सब होता है भगवान के शरीर के भरण, पोषण और रक्षण के लिए । उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना आदि भी होता है सेवा के लिए और सेवा के द्वारा होती है भगवान् की पूजा । भगवान् भी ऐसे भक्तों के भक्त हो जाते हैं, अतः भक्त साधक भगवान् से भी अधिक इन भगवद्भक्तों में पूज्य-भाव रखता है—'मद्भक्तपूजाभ्यधिका' ।

सर्वत्र भगवान् को ही देखने वाले ऐसे भगवत्समर्पित साधक को, जिसका सारा जीवन ही भगवत्पूजा-मय हो जाता है, भगवान् की परा भक्ति प्राप्त हो जाती है । वही जीवन का चरम लक्ष्य है । उसे प्राप्त कर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता—'कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते' ।

सन्तवाणी

चित्त-शुद्धि के लिए

निष्कामता की अनिवार्यता

[गताङ्क से आगे]

मेरे एक मित्र ने, जो हिन्दू यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर थे, मुझ से कहा, "जब हम कभी किसी दुःखी को देखते हैं, तो कभी तो उसकी सहायता कर पाते हैं और कभी नहीं कर पाते।" हमने कहा कि आप उलटा क्यों सोचते हैं, आप यह क्यों नहीं सोचते कि जब हमें किसी दुःखी का दर्शन होता है, तो कभी तो महानता ले पाते हैं और कभी नहीं ले पाते। क्या आप दुःखी को कुछ देते हैं? ईमानदारी से सोचिये, आप देते हैं कि लेते हैं। अगर आज संसार में से दुःखी समाज निकल जाय, तो जितने सुखी हैं सबके हार्ट फेल हो जांय। अगर न हो जांय तो जो चाहो सो करो। तो मेरे भाई, तुम्हारा सुख किसी दुःखी पर जीवित है। तुम्हारा विकास किसी दुःख पर जीवित है। तो आज हम दुःख से और दुःखी से इतने भयभीत, सुखी और सुख की दासता में इतने फंसे हुए हैं कि कभी अपने को छुटकारा ही नहीं दे पाते।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि भाई आप संसार की आवश्यकता हैं। आप उस प्रभु की भी आवश्यकता हैं। आप कहेंगे कैसे? अच्छा भाई, मैं समझता हूँ कि शायद एक आध को छोड़ कर यहाँ जो लोग बैठे हैं सभी चाहे सच्चाई से और चाहे झुठाई से ईश्वरवादी होंगे। प्रायः कहते तो सभी होंगे कि हम ईश्वरवादी हैं। अच्छा भाई, कितने ईश्वरवादी ऐसे हैं जो ईमानदारी से यह कह सकें कि हमारे मन में से देह-विश्वास जाता रहा, वस्तु-विश्वास जाता रहा, परिस्थिति-विश्वास जाता रहा और प्रभु-विश्वास है?

अगर भगवान आज खोज करने चलें कि देखें भाई कौन विरला माई का लाल ऐसा है कि जिसके जीवन में मेरा ही विश्वास हो, तो क्या भगवान आज नहीं तरसता है ऐसे विश्वासी के लिए ? आप कहेंगे कि भगवान तो सब प्रकार से पूर्ण है, वह क्यों तरसेगा । भाई, भगवान तो किसी भक्त का न भगवान होगा ? ईश्वर, किसी जीव का न ईश्वर होगा ? मालिक, किसी मिलकियत का न मालिक होगा ? आप सोचें और गंभीरता से सोचें तो आज आस्तिकों में से कितने आस्तिक ऐसे होंगे जो ईमानदारी से दिल खोल कर यह कह सकें "हे प्यारे हमारे जीवन में केवल तेरा विश्वास है।" जनाब, आपको विश्वास है बैंक के एकाउण्ट में, विश्वास है कुनीन की गोली में, विश्वास है डाक्टर के इलाज में, हम कहते हैं अपने को आस्तिक, परन्तु विश्वास ईश्वर में नहीं है । तो ऐसे आस्तिक के लिए आज ईश्वर कितना लालायित होगा, कितनी प्रतीक्षा कर रहा होगा कि कोई तो ऐसा होता मेरे मानने वालों में—न मानने वालों में नहीं—जो सचमुच मुझ से कहता कि मैं तेरा हूँ । ईश्वरवाद पर बड़े-बड़े विवाद होते हैं, अध्यात्मवाद पर बड़ी-बड़ी ऊंची छलाँगें मारी जाती हैं, बड़ी-बड़ी ऊंची चर्चा की जाती है ? लेकिन कितने अध्यात्मवादी होंगे जो ईमानदारी से यह कह सकें कि सचमुच मैं देह नहीं हूँ, और यह मेरी अनुभूत बात है कि मैं किसी काल में देह नहीं हूँ। और भाई मेरे, कितने भौतिकवादी होंगे कि जो ईमानदारी से कह दें कि मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित के लिए है ? कितने पति कहलाने वाले पति होंगे जो ईमानदारी से कह सकें कि हम इसलिए पति हैं कि हमारी पत्नी को रस मिलेगा ? कितनी पत्नियाँ निकलेंगी जो ईमानदारी से कह सकें कि हम इसलिए पत्नी हैं कि पति को रस देना है ? कितने पुत्र निकलेंगे जो ईमानदारी से कह सकें कि हम पिता के गौरव के लिए पुत्र हैं ? कितने पिता निकलेंगे कि जो कह सकें कि हम पुत्र के विकास के लिए पिता हैं ? सोचें और गम्भीरता से सोचें, और धीरज से सोचें, हम सब विश्व की आवश्यकता हैं। हम सब उस अनन्त की आवश्यकता हैं।

ऐसा सुन्दर जीवन मिलने पर भी आज हम अभाव से क्यों पीड़ित हों ? आज हम पराधीनता में क्यों आबद्ध हों ? आज हम जड़ता में क्यों आबद्ध हों ? भाई, बात यह है कि हमने अपने चित्त को शुद्ध नहीं किया। किसके द्वारा ? अपनी वस्तुस्थिति को जानकर। मेरा तो निवेदन यह

है कि ऐसा कोई व्यक्ति है हीं नहीं थे जितना जानना चाहिए उतना न जानता हो। हम सब उतना जानते हैं जितना जानना चाहिए और उतना मानते हैं जितना मानना चाहिए और उतना कर सकते हैं जितना करना चाहिए। फिर जीवन में अभाव क्यों? केवल भय से। किस भय से? हाय-हाय यदि हमारे मन की बात पूरी नहीं हुई, तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा। अरे भाई, अगर मेरे मन की बात पूरी नहीं हुई, तो हमारे प्यारे के मन की बात तो पूरी हुई, हमारे समाज के मन की बात तो पूरी हुई, हमारे साथी के मन की बात तो पूरी हुई। तो जब आपके मन की बात पूरी नहीं होती है, तब तो आपके जीवन में वेदना होती है और जब आपके साथी के मन की बात पूरी होती है, तब आपको हर्ष नहीं होता, जो होना चाहिये था। अरे भाई, ईश्वरवादी किसे कहेंगे? जिसने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया हो। तो जिसकी सत्ता हम स्वीकार करते हैं, उसके मन की बात पूरी होगी या हमारे मन की बात पूरी होगी? तीसरा तो कोई है नहीं। यदि हमारे मन की बात पूरी नहीं हुई, तो हमारे साथी के मन की बात पूरी हो गई, इससे आप क्यों घबराते हैं? क्यों भयभीत होते हैं? सोचिए। लेकिन हम यही सोचते हैं कि हमारे ही मन की बात पूरी होनी चाहिए।

ऊपर से तो आप मानते हैं कि हमारे समान कोन स्वाधीन हो सकता है। जो चाहा सो कर लिया। हम उनसे कहेंगे कि भाई, तुम जो चाहो उसे करने में स्वाधीन हो तो आप उसे किसकी आवाज पर करते हैं? आप कहेंगे कि हमारे मन में यह बात आ गई। भाई, मन के शासन से भी आप स्वाधीन हो क्या? नहीं, मन के तो अधीन हैं। तो भाई, जो किसी के अधीन है वह बहुत बड़ा पराधीन है। पराधीनता के टुकड़े नहीं होते। आप कहेंगे कि नहीं-नहीं हम तो केवल अमुक व्यक्ति के अधीन हैं। अगर आप अमुक व्यक्ति के अधीन हैं, तो जाने कितने व्यक्तियों के अधीन हैं। अगर हम किसी भी वस्तु के अधीन हैं, तो सारी सृष्टि के अधीन हैं। इसमें कोई सदेह की बात नहीं। परन्तु ऐसा पता नहीं चलता। क्यों नहीं चलता? क्योंकि हमने आज अपने सम्वन्ध में जानने के लिए प्रयास बन्द कर दिया।

इसलिए यदि हमें और आपको अपना चित्त शुद्ध करना है, और अपने को वास्तव में जैसे हैं वैसा

जानना है तो दूसरों के सम्बन्ध में जानने की जो आदत बन गई है उसको कुछ काल के लिए छोड़ दीजिए और अपने सम्बन्ध में जानने का प्रयास कीजिये। जैसे-जैसे हम अपने सम्बन्ध में जानते जायेंगे, सच मानिये, वैसे ही वैसे हम और आप सुन्दर होते जायेंगे। क्यों? स्वरूप से आप बड़े सुन्दर हैं, असुन्दर नहीं हैं, स्वरूप से आप स्वाधीन हैं, पराधीन नहीं हैं, स्वरूप से आप आदरणीय हैं, निन्दनीय नहीं हैं, लेकिन आदरणीय होते हुए भी आज हम अपने को निन्दनीय मानते हैं, सुन्दर होते हुए भी हम अपने को असुन्दर मानते हैं, स्वाधीन होते हुए भी आज हम अपने को पराधीन मानते हैं; ऐसा केवल इसलिए कि हम अपने सम्बन्ध में जानने का प्रयास नहीं करते। और कोई कारण नहीं है। इसलिए भाई, हम सब वर्तमान में, भविष्य में नहीं, अपनी सुन्दरता का अनुभव कर सकते हैं, अपनी स्वाधीनता का अनुभव कर सकते हैं। अपने में स्थापित की हुई अशुद्धि को जो वास्तविक नहीं है, केवल स्वीकार की हुई है, हम निकाल सकते हैं, जब चाहें तब, जिस दिन चाहें उस दिन, जिस समय चाहें उसी समय। जिस समय आपने यह तय कर लिया कि हम चित्त को अशुद्ध नहीं रहने देंगे, उसी दिन आप चित्त को शुद्ध कर सकते हैं।

जब आप चित्त को शुद्ध कर लेंगे, तब मालूम है क्या होगा? तब आस्तिकता-जनित प्रभु-विश्वास, प्रभु-प्रेम, प्रभु-सम्बन्ध तीनों चीजें दिखाई पड़ेंगी, चौथी चीज नहीं। आप कहेंगे, तीन कैसे हो गईं? ये स्टेजेज हैं, श्रेणियाँ हैं, आस्तिकवाद की। पहली श्रेणी है प्रभु-विश्वास। प्रभु-विश्वास का अर्थ यह है कि हम जो कुछ इन्द्रिय-ज्ञान से देखते हैं, बुद्धि-ज्ञान से देखते हैं, उन सब में प्रभु के समान मित्र कोई नहीं है। एक बात जरा गम्भीरता से सोचने को है कि आस्तिकवादी का आस्तिकवाद में प्रवेश ज्ञान पूर्वक नहीं होता। भाई, इससे बहुत से लोग घबरायेंगे और मेरे सामने बड़े-बड़े प्रमाण रख देंगे और कहेंगे कि आप गलत कहते हैं, बिना जाने प्रतीति नहीं होती। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि विश्वास से ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्यों? विश्वास उसके सम्बन्ध में किया जाता है जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, ज्ञान उसके सम्बन्ध में होता है जिसके सम्बन्ध में सब कुछ जानते हैं और संदेह उसके सम्बन्ध में होता है जिसके सम्बन्ध में अधूरा जानते हैं। जिसको आप इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं, उसके सम्बन्ध में आपको

संदेह हो सकता है, अपने सम्बन्ध में आपको संदेह हो सकता है, क्योंकि अपनेपन का भी भास होता है। जिसके सम्बन्ध में संदेह होता है उसी के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। इसलिए मैं क्या हूँ, यह क्या है—यही जिज्ञासा का रूप है। जिज्ञासा है क्या? मैं क्या हूँ, यह क्या है? लेकिन मेरे भाई, विश्वास उसी पर होता है कि जिसके संबन्ध में आप कुछ नहीं जानते। आप कहेंगे फिर यह जो हम को बताया जाता है श्रुति द्वारा, स्मृति द्वारा, पुराण द्वारा, वह क्या ठीक नहीं है? तो आपको यही न कहना पड़ेगा कि यह तो गुरु-विश्वास है। आपके गुरु ने, आपके आचार्य ने, आपके नेता ने कोई बात कही, और आपने उसे मान लिया। तो विश्वास जिसकी भूमि है, उससे जन्म किसका होगा? विश्वास से जन्म विश्वास का होगा कि विश्वास से जन्म ज्ञान का होगा? विश्वास से जन्म विश्वास का होगा, ज्ञान का नहीं होगा।

एक बात यहाँ विचारणीय है कि विश्वास में एक विलक्षणता है। आपका विश्वास किसी पर हो जाय, फिर हम आपको चेलेञ्ज देते हैं कि आप उससे सम्बन्ध तोड़ तो लीजिए और जिससे आपका सम्बन्ध हो जाए उसको जरा भूल तो जाइये। या तो मेरे भाई, आप उसे तब भूलेंगे, जब सम्बन्ध तोड़ देंगे और संबन्ध तब तोड़ पायेंगे, जब अविश्वास हो जायगा। जब तक अविश्वास नहीं होता, तब तक सम्बन्ध तोड़ नहीं सकते और जब तक सम्बन्ध तोड़ नहीं सकते, तब तक उसकी विस्मृति हो नहीं सकती। तो प्रभु-विश्वास का फल क्या? कि प्रभु से सम्बन्ध हो जाय। ईश्वर है, जाने कैसा है, कोई होगा। इतना तो बहुत से लोग मान लेते हैं, लेकिन जिसको आपने मान लिया कि वह आपका अपना है उसकी आस्तिकता का अर्थ यह है कि प्रभु-विश्वास के साथ-साथ प्रभु से सम्बन्ध हो जाय। सम्बन्ध में स्वतः स्मृति निहित है, स्मृति में प्रीति निहित है और प्रीति में प्राप्ति निहित है।

अब बताइये, कौन सी कठिनाई है? या तो आपको यह मानना पड़ेगा कि हमारे जीवन में प्रभु-विश्वास ही नहीं है और जब प्रभु-विश्वास ही नहीं है, तो सम्बन्ध कैसे हो, स्मृति कैसे हो, चित्त कैसे लगे? यह जो हम शिकायत करते रहते हैं, क्या बतायें भजन में मन नहीं लगता। अरे भाई, मैं कहता हूँ भजन कोई अभ्यास है क्या? अगर भजन भी अभ्यास है, तो फिर आप जो अभ्यास करते हैं, वह क्या है? अभ्यास भजन नहीं है। यह बहुत

अच्छी तरह आपको समझ लेना चाहिए कि अभ्यास भजन नहीं है, भजन विश्वास है। अगर प्रभु में विश्वास है, तो आपका भजन हो गया। अगर प्रभु में विश्वास है, तो वस्तु-विश्वास नहीं रह सकता। जब वस्तु-विश्वास नहीं रहता, तो वस्तु-सम्बन्ध भी नहीं रहता। यदि वस्तु-सम्बन्ध नहीं रहता, तो लोभ भी नहीं रहता। लोभ नहीं रहता, तो संग्रह नहीं रहता, और उदारता आ जाती है। उदारता आने पर समता आ जाती है। समता आने पर योग हो जाता है। बताओ, क्या देर लगी, आपको क्या कठिनाई हुई।

आप फिर यह कहेंगे कि हाँ साहब, समझ तो लिया कि वस्तु-विश्वास नहीं करना चाहिये, प्रभु-विश्वास करना चाहिए, लेकिन होता नहीं। अरे भाई, होता तो इसलिए नहीं कि आप चाहते नहीं। आप तो चाहते हैं कि वस्तुओं का भोग भी करते रहें और प्रभु का प्रेम भी मिल जाय। यही न चाहते हैं? वस्तुओं का संग्रह भी करना है और समाज में बड़े व्यक्ति भी कहलाना है, यही न चाहते हैं? तो जब आप भोग के साथ योग चाहते हैं, स्वार्थ के साथ मान चाहते हैं, तो भैया, प्राप्त नहीं होगा, कभी नहीं हुआ, किसी को नहीं हुआ, हमको भी नहीं होगा, आपको भी नहीं होगा। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने सम्बन्ध में जानें और यह जानें कि क्या हम सचमुच आस्तिक हैं, यह जानें कि क्या हम सचमुच आध्यात्मिक हैं, यह जानें कि क्या हम सचमुच भौतिकवादी हैं। जो भी आप हों, इसमें कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि भौतिकवादी होकर विश्व से प्रेम करना होगा, अध्यात्मवादी होकर अपने से प्रेम करना होगा, ईश्वरवादी होकर प्रभु से प्रेम करना होगा। मानव को करना होगा प्रेम, और करना होगा विश्वास, और करनी होगी सेवा। भौतिकवादी बनिये, संसार पर विश्वास कीजिये, संसार की सेवा कीजिये, संसार से प्रेम कीजिये। फिर बोलो संसार क्या करेगा? उसके कर्तव्य पर मत सोचिये, उसकी जो मर्जी होगी सो करेगा। तो कहने का मेरा तात्पर्य है कि यदि आप अध्यात्मवादी हैं, तो अपने पर विश्वास कीजिये अपने से प्रेम कीजिये, अपने में संतुष्ट हो जाइये; अगर आप आस्तिक हैं, तो प्रभु में विश्वास कीजिये, प्रभु से सम्बन्ध जोड़िये, प्रभु से प्रेम कीजिये।

कहने का मेरा तात्पर्य है कि जब हमें विश्वास करना है, सम्बन्ध करना है, प्रेम करना है, सेवा करनी

है, तो बताइये पराधीनता कहाँ है। पराधीनता वहाँ है जहाँ हम भौतिकवादी बनें और विश्व का सुख भोगें, अध्यात्मवादी बनें और अपनी पूजा करायें कि हम ही ब्रह्म हैं, और यदि ईश्वरवादी बनें तो ईश्वरवाद की चर्चा करें, उसके बदले में मौज करेंगे।

तो भाई, इस प्रकार का हमारा जीवन है, जिसमें हमने लेना ही लेना सीखा है, और यही तय किया है कि ईश्वर को मानेंगे तो उससे भी कुछ लेना है, आत्मा को मानेंगे तो उससे भी कुछ लेना है, संसार को मानेंगे तो उससे भी कुछ लेना है, और जिसके साथ नाता जोड़ेंगे उससे भी कुछ लेना है। जब तक यह भावना हमारे जीवन में रहेगी, तब तक हमें यह मानना पड़ेगा कि अपने सम्बन्ध में हमने कुछ जाना नहीं। जब तक अपनें सम्बन्ध में जाना नहीं, भाई, तब तक हमारा आपका चित्त शुद्ध होगा नहीं। इसलिए आज की चर्चा का सार निकला कि यदि हमें और आपको चित्त शुद्ध करना है तो अपने-अपने सम्बन्ध में जानने का प्रयास करना होगा। जितना-जितना हम और आप अपने सम्बन्ध में जानते जायेंगे, उतना-उतना हमको और आपको यह विश्वास होता जायगा, हमको और आपको यह अनुभव होता जायगा कि सचमुच हम सभी की आवश्यकता हैं और हमें किसी की आवश्यकता नहीं है। प्रेम जहाँ है वहाँ कोई आवश्यकता नहीं है, सेवा जहाँ है वहाँ कोई आवश्यकता नहीं, एकता जहाँ है वहाँ कोई आवश्यकता नहीं और हमारे आपके सबके जीवन में एकता आ सकती है, सेवा आ सकती है, प्रेम आ सकता है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है, अर्थात् हम सब इतने सुन्दर हो सकते हैं कि हमें किसी की आवश्यकता न हो और हमारी सब को आवश्यकता हो, यही चित्त की वास्तविक शुद्धि है।

[समाप्त]

भारत-वन्दना

• एक मानव

जय जय जय भारत विशाल।
अशरण-शरण खलदल-दलन, करन सकल भुवन निहाल। जय०

तव स्रोत्त निस्सृत श्रुति-सरित्त, कविकुल-कलित वीचिमाल;
कृत-ध्वनित जग स्वकल-निनाद, शमित जनमन-दुःख ज्वाल। जय०

तव गगन उदित ज्ञान-भानु, नाशक मोहतम कराल;
कृष्ण बुद्ध गौतम कणाद, व्यासादि जेहि किरनमाल। जय०

रत्नाकर तव अति अपार, रत्न वितरन मनहु थाल;
विंध्य हिमालय मलय सह्य, मुकुटमणि जिमि प्रकृति भाल। जय०

सर सरि उपवन वन अनूप, विहरत भ्रमर खग मराल;
चिंघरत मत्त गजेन्द सिंह, दहलत हृदय अरि-शृगाल। जय०

कामधेनु सम मंजु रेनु, वन्दित सुर मुनि नरपाल;
रत्नगर्भा, वीर-प्रसवा, अन्नपूर्णा सर्वकाल। जय०

उमा रमा युत गिरा-गेह, रक्षित कालिका कराल;
तव हित तन-मन-धन अर्पन, तत्पर कोटि-कोटि लाल। जय०

जगदैकवन्धु प्रेम-सिन्धु, सुजन-रंजन खलन काल;
तव यशेन्दु जग-लक्ष्य-विन्दु, धवल विश्व जेहि रश्मिजाल। जय०

रामलला का सखा

• एक मानव

*

लगभग दोसौं वर्ष की बात है। सीताजी की जन्म-भूमि जनकपुर में एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। उसके एक पुत्र था, जिसका नाम था प्रयागदत्त। थी बेचारी गरीब। उसके यहाँ न कोई आता, न जाता। गरीब से सम्बन्ध जोड़ने वाले विरले ही होते हैं। मेहमान भी उसी के यहाँ जाते हैं जहाँ पहुनाई होती है। बालक प्रयागदत्त देखता कि पड़ोसियों के यहाँ मेहमान आते-जाते रहते हैं। उनके आने पर घर में बड़ी चहल-पहल रहती है। बच्चों के लिए मिठाइयाँ आती हैं, उन्हें उपहार मिलते हैं। प्रयागदत्त यह सब देखता और मन मार कर रह जाता। उसके जीवन में कभी ऐसा आनन्ददायक समय ही नहीं आया। वह अपनी माँ से पूँछता, "माँ, क्या मेरे और कोई है ही नहीं ?"

जैसे अवध के सब लोग रामजी से अपना नाता जोड़ते हैं, वैसे ही जनकपुर में सीताजी से नाता जोड़ा जाता है। सच्चा नाता हो भी सकता है इन्हीं दो से। अन्य सब नाते होते हैं, अनित्य, इनसे जोड़ा हुआ नाता होता है नित्य, न कभी टूटे, न कभी इनसे बिछोह ही हो। फिर, इनसे चाहे जो नाता जोड़ो, ये उसी को स्वीकार कर लेते हैं और उसका जितना उत्तम निर्वाह ये करते हैं वैसा दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, ये अपने सम्बन्धी को, आप्तकाम बनाकर अपने से अभिन्न कर लेते हैं और वह सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। इन्हें चाहे सीताराम के रूप में देखो, चाहे राधाकृष्ण के रूप में, चाहे गौरीशङ्कर के रूप में, और चाहे किसी अन्य रूप में। ये दो नहीं एक ही हैं, केवल लीला के लिए दो से दिखते हैं। ईश्वर, भगवान, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि सब इन्हीं के नाम हैं।

जनकपुर की वह ब्राह्मणी सीताजी को अपनी बेटी मानती थी। वह प्रयागदत्त से कहती, "बेटा, तुम्हारी

एक वड़ी वहिन है। वह अयोध्या के चक्रवर्ती राजा के वड़े राजकुमार को ब्याही है।" बालक कहता, "माँ, तुम वहिन को बुलातीं क्यों नहीं? जीजाजी यहाँ क्यों नहीं आते?" माँ इस प्रश्न को टालने के लिए कुछ न कुछ कह दिया करती, जैसे वे राजा-महाराजा हैं उन्हें राज-काज से फुर्सत ही कहाँ जो यहाँ आवें? या, सीता वहाँ महारानियों की भाँति रहती है, हमारे यहाँ आने से उसे तकलीफ ही होगी; क्यों उसे यहाँ बुलाकर कष्ट दें? बालक भी आसानी से हार मानने वाला नहीं था, वह कहता, "अच्छा माँ, तो मैं ही वहिन के यहाँ जाऊँगा।" माँ उत्तर देती, "अयोध्या यहाँ से बहुत दूर है। तुम अभी छोटे हो, बड़े होने पर वहाँ जाना।"

बालक यह तो जानता नहीं था कि उसके वहिन-वहनोई स्वयं विश्व-पति हैं, परन्तु उसके हृदय में उनके प्रति प्रेम की हिलोरें उठती रहीं। कल्पना-जगत् में विचरण करते हुए, न जाने कितने मधुर स्वप्न वह देखता रहा। अवस्था बढ़ने के साथ ही साथ जीजी और जीजा से मिलने की उसकी अभिलाषा भी तीव्र होती गई। प्रतीक्षा, उत्कट प्रतीक्षा उसके जीवन का अङ्ग बन गई। अन्त में काफी बड़ा होने पर वह और प्रतीक्षा न कर सका। उसने अयोध्या जाने का हठ पकड़ लिया।

ब्राह्मणी भक्तिमती तो थी ही, उसे विश्वास था कि करुणामयी मिथिलेशनन्दिनी अपने अबोध भाई को यों ही अनाथ नहीं रहने देंगी। उसके घर में तो कुछ था ही नहीं, माँगकर थोड़े से चावल कहीं से ले आई। उन्हें पीसकर उनके आटे से उसने थोड़े से लड्डू वना दिये। उन्हें एक कपड़े की पोटली में बाँध दिया और प्रयागदत्त को देते हुए उसने कहा, "ये अपनी वहिन और जीज जी को दे देना।" रास्ते में प्रयागदत्त के खाने के लिए उसने सत्तू बाँध दिया।

चलते-चलते तथा रास्ते की मुसीवतें सहते-सहते कुछ दिनों में प्रयागदत्त अयोध्या पहुँच गये। अपने चक्रवर्ती बहनोई को ढूँढ़ने में उन्होंने सारी अयोध्या छान डाली। कोई घर ऐसा नहीं बचा जहाँ जाकर उन्होंने उनका पता न पूँछा हो। जिससे पूँछते, वही हँस देता। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान हो गये वे। सारा प्रयास विफल, मिलन की अभिलाषा छूटती नहीं, करें तो क्या करें, कोई अन्य उपाय भी सूझता नहीं, थककर वे मणि पर्वत के एक ऊँचे टीले पर बैठ गये। वहिन-बहनोई की कल्पित मूर्ति हृदय-पटल पर अङ्कित थी ही,

उसी पर ध्यान जम गया। अभी तक की आशा-भरी प्रतीक्षा विरह में परिणत हो गई। उसकी ऐसी ज्वाला भड़की कि प्रयागदत्त का सारा व्यक्तित्व जलकर राख हो गया। ऐसे ही क्षण में तो भगवान प्रकट हुआ करते हैं। प्रयागदत्त के जीजाजी को भी उनकी बहिन के साथ प्रकट होना ही पड़ा।

हाथी के घण्टे की घनघनाहट कान में पड़ने से प्रयागदत्त की बाह्य चेतना वापस आ गई। उन्होंने एक सजे-धजे सुफेद हाथी पर एक राज-दम्पती को आते देखा। हाथी आकर उन्हीं के सामने रुक गया और वे दोनों उतर पड़े। ये वही थे जिन्हें देखने के लिए प्रयागदत्त की आँखें तरस रहीं थीं। बहिन ने पूँछा, 'भैया, माँ तो अच्छी तरह हैं ? तुम तो अच्छे रहे ?" प्रयागदत्त हक्का-बक्का हो गये, फिर सँभलकर बोले, "तुमने तो हमें खूब परेशान किया। किसी ने तुम्हारा पता ही नहीं बताया।" सीताजी ने कहा, "भैया, तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ, हम लोग ऐसे स्थान में रहते हैं जहाँ न सब पहुँच ही पाते हैं और न सब हमारा पता ही जानते हैं। भैया, माँ ने हमारे लिए कुछ भेजा है ?" प्रयागदत्त ने लड्डुओं की पोटली उनकी ओर बढ़ा दी। सीताजी ने उसमें से दो लड्डू निकाल लिये और शेष प्रयागदत्त को देते हुए कहा, "लो, ये तुम्हीं खा लेना। अब तुम घर लौट जाओ। माँ से कहना, हम लोग बड़े आनन्द से रहते हैं।" प्रयागदत्त को कुछ और कहने का अवसर दिये बिना ही वे दोनों हाथी पर सवार हो गये। हाथी थोड़ी दूर जाकर जङ्गल में अदृश्य हो गया।

एक बार भी जिसको उन त्रिभुवन-मोहन की झाँकी मिल जाती है, वह क्या बिना उनके रह पाता है ? प्रयागदत्त तो शैशव से ही बहिन और बहनोई के सान्निध्य में रहने की साध लेकर बड़े हुए थे। उन सुषमा के आगार की एक झलक पाकर ही वे कैसे संतुष्ट रह सकते थे ? उनका इस प्रकार चला जाना वे सह नहीं सके और उनके वियोग में मूर्च्छित हो गये। कुछ देर बाद थोड़ी चेतना आने पर वे पानी से बाहर निकाली मछली की भाँति छटपटाने लगे। उसी समय एक सन्त उधर से आ निकले। उन्हें इनकी उस दशा पर दया आ गई। वे किसी प्रकार इन्हें अपनी गुफा पर ले आये। कुछ स्वस्थ होने पर प्रयागदत्त ने अपनी सारी कथा उन्हें कह सुनाई। संध्या का अन्धकार फैलते ही दो स्त्रियाँ गुफा पर आईं, और व्यंजनों से भरे

दो थाल महात्माजी को देकर कहने लगीं, "आज हमारे यहाँ भगवान की पूजा हुई है, उसी का यह प्रसाद है। इसे रख लीजिए थाल सवेरे चले जायँगे।" थाल कमल के पत्तों से ढके थे। स्त्रियों के चले जाने पर महात्मा जी ने पत्ते हटाये, तो जगमगाते हुए सोने के थालों को देख कर वे चकित हो गये। उन्होंने समझ लिया कि जगज्जननी ने अपने भाई की पहुनाई की है। सवेरे थाल लेने तो कोई आया नहीं, महात्मा जी ने उन्हें प्रयागदत्त को देना चाहा, पर उन्होंने लेने से इन्कार कर दिया, कहा, "माँ मुझे घर से निकाल देंगी; लड़की की कोई वस्तु वे कैसे ले लेंगी?" महात्मा जी ने उन्हें गणेश-कुण्ड में फेंक दिया। प्रयागदत्त घर पहुँचे। माता ने सब समाचार सुना तो गद्गद हो गई। प्रेम-प्रवाह नेत्रों से उमड़ पड़ा।

एक वर्ष बाद ब्राह्मणी का देहान्त हो गया। पास के एक गाँव में एक सम्पन्न ब्राह्मण रहते थे। वे पुत्रहीन थे, उनके केवल एक कन्या थी, जिसका विवाह वे प्रयागदत्त से करके उन्हें अपने यहाँ रखना चाहते थे। पर प्रयागदत्त के हृदय में तो दिव्य वहिन-बहनोई की मूर्ति बस गई थी। कामिनी-कंचन का लालच उन्हें कैसे लुभा सकता था? वे घर छोड़कर अयोध्या चले आये।

अयोध्या पहुँचने पर प्रयागदत्त की बड़ी विचित्र दशा हो गई। वे बहिन-बहनोई के दर्शनों के लिए छटपटाने लगे। कुछ दिन तो इन्होंने मणिपर्वत के उस टीले पर जहाँ पहले उनके दर्शन मिले थे, प्रतीक्षा की। फिर वे वनकुंजों और झाड़ियों में उन्हें ढूँढ़ते हुए भटकने लगे। भूख-प्यास सब हर गई। न दिन में चैन, न रात में नींद। इसी दशा में पूर्व परिचित सन्त श्री त्रिलोचन स्वामी ने इन्हें देख लिया। वे इन्हें अपने आश्रम पर ले आये।

महात्माजी के सत्सङ्ग का बड़ा अच्छा प्रभाव इन पर पड़ा। दूसरे ही दिन इन्होंने महात्मा जी से दीक्षा ले ली और लँगोटी-अँचला पहन ये प्रयागदास बन गये। सरल आस्था और भावुकता तो इनमें जन्म-जात थी ही, मोहिनी मूर्ति हृदय में बस ही चुकी थी, हृदय में लबालब भरा प्रेमसागर जो अभी तक कुछ शान्त था, सन्त की दीक्षा मिलते ही उमड़ पड़ा। उसी में ये डूब गये। संसार से इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया। वे कहाँ हैं, किस स्थिति में हैं, इसकी उन्हें कोई सुध ही नहीं रही। कोई खिला देता तो खा लेते, पिला देता, तो पी लेते। कहीं खड़े हैं, तो घण्टों खड़े ही रह गये, किसी को देखने लगे, तो वहीं दृष्टि गड़ी

रह गई। इनके भीतर हृदय में कौन-सी प्रेम-लीला चलती रहती, इसका किसी को क्या पता ?

सिन्धु से उत्पन्न जगज्जननी श्री लक्ष्मी जी के भाई होने से चन्द्रदेव सब के मामा हो गये; इसी प्रकार विदेह-नन्दिनी के भाई होने के नाते ये परमहंस सन्त भी सबके मामा बन गये। बच्चे इन्हें मामा-मामा कहकर पुकारने लगे।

एक बार न जाने कैसे इन्हें भगवान की वन-गमन-लीला का ध्यान आ गया। इनके मन में यह बात बैठ गई कि जीजाजी बहिन को अपने साथ वन में ले गये हैं। वह सुकुमारी वन के दुखों को कैसे सह पाती होगी, यह सोच कर वे बड़े दुखी हुए। अब उन्हें एक धुन सवार हो गई। माँग-जाँच कर कुछ धन इकट्ठा किया। उससे तीन पलँग बनवाये, जो एक के नीचे एक रक्खे जा सकते थे। उनके लिए गद्दे-तकियों का भी प्रबन्ध किया। तीन जोड़ी जूते भी बनवाये। तीनों पलँगों को तर-ऊपर रखकर उन्हीं पर गद्दे, तकिये और जूते भी रख लिये और उन्हें सिर पर लादकर चित्रकूट को चल दिये। रास्ते में जहाँ कहीं कँक-ड़ीली-पथरीली भूमि या काँटे-खोभर से भरा रास्ता मिलता, तो बहिन के कष्ट को याद कर रो पड़ते और बहनोई को कोसने लगते।

चित्रकूट पहुँचकर उन्होंने पलँग स्फटिक-शिला के पास बिछा दिये, जूते नीचे रख दिये और फिर उन्हें ढूँढ़ने में लग गये। जब ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान हो गये, तो खीझकर कहने लगे, "देखो न, कहीं छिप गये; सोचा होगा कि अब प्रयागदास आ गया है, उसकी बहिन सचेत हो जायगी और घर लौटने के लिए उन्हें बाध्य करेगी।" लौटकर देखते क्या हैं कि तीनों पलँगों पर राम, जानकी और लक्ष्मण विराजमान हैं। दौड़कर सब के चरण छुए, उन्हें जूते पहनाये और राम को उलाहना देते हुए कहने लगे, "जीजाजी, आप यहाँ आये तो आये, मेरी इस सुकुमारी बहिन को यहाँ क्यों ले आये? तुम्हारे दिल में क्या कुछ भी दया नहीं है?" सीता जी बोल उठीं, "भैया, मैं स्वयं यहाँ आई हूँ, ये तो मुझे ला ही नहीं रहे थे। मुझे यहाँ बड़ा अच्छा लगता है।" प्रयागदास कहने लगे, "हाँ, तुम मेरी बहिन जो हो, अपना धर्म तो निबाहोगी ही; पर इन्हें भी तो कुछ सोचना चाहिये था।" फिर राम से कहने लगे, "अच्छा जीजाजी, तो अब मैं भी आपके साथ-साथ इन पलँगों को लेकर चलूँगा और आप सबकी सेवा करूँगा। मैं आपको इस

प्रकार वनवास के कष्ट झेलने नहीं दूंगा।" राम ने समझाते हुए कहा, "देखो भैया, हमें पिता की आज्ञा का पालन करना है। हम न जूते पहन सकते हैं, न पलँग पर सो ही सकते हैं, आज तो हम तुम्हारी प्रसन्नता के लिए इन पर बैठ गये। हम धर्म से बँधे हैं। तुम पलँग ले जाओ, इन्हें तुम ही काम में लाना। हमें यहाँ कोई कष्ट नहीं है।" जानकी जी ने भी इन्हें समझाकर लौट जाने को कहा।

ये विवश होकर पलँग इत्यादि सब सिर पर लाद कर रास्ते में राम को बुरा-भला कहते बड़बड़ाते हुए अयोध्या को लौट आये। यहाँ एक नीम के पेड़ के नीचे इन्होंने एक खाट डाली। उसी पर गद्दे-तकिये सजा दिये और उस पर लेट कर मस्ती में गाने लगे—

नीम के नीचे खाट बिछी है,
खाट के नीचे करवा;
प्रागदास अलमस्ता सोवै,
रामलला का सरवा।

उनकी मस्ती का क्या पूछना, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक के साले और उद्भव-स्थिति-संहार-कारिणी क्लेश-हारिणी महाशक्ति के भाई ही जो ठहरे।

प्रेमी ग्राहकों से निवेदन

पत्रिका के इस अङ्क के साथ आपका वार्षिक शुल्क समाप्त हो जाता जाता है। आगामी वर्ष, अर्थात् सन् १९७२ का शुल्क इसी माह में आजाना चाहिए, ताकि पत्रिका लगातार आपकी सेवा में पहुँचती रहे।

इस मानव-जीवन का लक्ष्य है कि शरीर विश्व के काम आजाय, हृदय प्रेम से भर जाय, अहम् अभिमान शून्य हो जाय, यानी जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय। इस लक्ष्य की प्राप्ति में मानव पूर्ण स्वाधीन है तथा वर्तमान में ही उसे पा सकता है। उसे इसी जीवन में पा लेना नितांत आवश्यक है। "जीवन-दर्शन" प्रति मास आपको आपके जीवन लक्ष्य की याद दिलाता है, उसे प्राप्त करने के साधन की ओर संकेत करता है, साधनमय जीवन की पेरणा देता है और आपकी साधन-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में आपकी सहायता करता है।

आपकी सुविधा के लिए नवम्बर के अङ्क के साथ मनिआर्डर फार्म भेजे जा चुके हैं, आप कृपया उनका उपयोग करें। पुराने ग्राहकों को अपनी संख्या अवश्य लिखनी चाहिए। नये ग्राहक उसके स्थान पर "नया ग्राहक" लिखने की अवश्य कृपा करें।

सब कुछ कृष्णार्पण

• श्रीमती जानकीदेवी बजाज

बापूजी का सारा जीवन ही प्रेरणा का स्रोत था। जो भी उनके सम्पर्क में आया, अपनी पात्रता के अनुसार उसने उनसे लाभ उठाया। उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, लिखते-पढ़ते, हर समय बापूजी सब को कुछ न कुछ देते ही रहते थे।

मुझे तो बापूजी के सम्पर्क में आने के पहले ही अपने पति श्री जमनालाल जी के जरिये उनकी प्रेरणा मिलने लगी थी। लेकिन जब मैं उनके सीधे सम्पर्क में आयी, तब से जीवन ही बदल गया। बापूजी से पहली बार मैं मणि-भवन, बम्बई में मिली थी। श्री जमनालाल जी ने मुझे कह दिया था कि वहाँ घूंघट मत काढ़ना। अन्दर कमरे में जाते ही मैंने घूंघट थोड़ा-सा हटा दिया और बापू को प्रणाम किया। वह चरखा कात रहे थे। मुझे बड़ा अजीब लगा। हाय राम! इतने बड़े आदमी होकर चरखा कातते हैं। मैंने बापू से पूछा—चरखा कातना अच्छा है क्या? बापू ने कहा—हाँ, तुम कात सकती हो? बस, फिर तो धुन लग गई। वर्धा आते ही सासजी से कहा मैं चरखा कातना सीखूंगी। सासजी बहुत खुश हुईं। बोलीं, जरूर सीख, मैं सिखा दूंगी। मैं बहुत लगन से चरखा कातना सीखने लगी। सात दिन में ही सीख लिया। बहुत खुश हुई, सोचा गाँव भर को सिखा दूं। फिर तो ६० चरखे मंगवा कर एक लम्बा-चौड़ा वर्ग चला दिया।

इसके कुछ समय बाद ही नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। वर्धा में अफवाहें उड़ने लगीं—वहां गोलियाँ चलेंगी, लोग पकड़े जाएंगे और ऐसी ही कई बातें। नागपुर आते हुए बापूजी वर्धा उतरे। गांधी चौक की सभा में बापूजी ने छुआछूत मिटाने का प्रस्ताव रक्खा, सभा के बाद वे घर आये। घूंघट काढ़े हुए ही मैंने उन्हें प्रणाम किया और धीरे से पूछा—खादी पहनने के लिए आप कहते हैं, सो तो ठीक है, लेकिन खादी की साड़ी मोटी होती है,

घूंघट काढ़ने के बाद उसमें से दिखेगा कैसे ? बापू बोले—खोजों की स्त्रियों की तरह आँखों पर जाली लगा लेना । अब मैं क्या बोलती ? मेरे प्रश्न का उत्तर तो उन्होंने दे दिया था । आज जब भी उनके इस उत्तर का खयाल करती हूँ, तो उनकी खूबी समझ में आती है । उस समय उन्होंने मुझसे घूंघट छोड़ देने को नहीं कहा । अब तो घूंघट-परदा सब छूट गया । लेकिन उस समय मेरी जैसी स्त्री को घूंघट छोड़ने को कहना शब्दों को व्यर्थ गंवाना ही था ।

घूंघट की बात के बाद मैंने बापू से कहा—लोग तो पहले ही कई प्रकार की अफवाहें उड़ा रहे हैं, अब आपने छुआछूत की बात कह दी है । उससे तो लोग और भी भड़केंगे । बापूजी ने बड़ी गम्भीरता से कहा, जो बात समाज के लिए अच्छी हो, उसे समाज के सामने गोले की तरह फेंक देना चाहिए । फिर तो समय आने पर समाज खुद ही उसे उठा लेता है । इसमें डरना क्या ? मैं चुप हो गई । कुछ अधिक ज्ञान थोड़े था उस समय । लेकिन आज उस बात को याद करती हूँ, तो बापू से साहस की प्रेरणा मिलती है ।

नागपुर कांग्रेस में मैं भी गई । धुन तो यह थी कि खादी पहननी है, लेकिन खादी क्या होती है, इसका भी ज्ञान नहीं था । मैंने यह समझकर कि देशी कपड़ा ही खादी है, नागपुर मिल की साड़ी पहन ली । जब महादेव भाई ने वह साड़ी पहने देखा, तो कहने लगे, "कम से कम अपने लोगों को तो खादी ही पहननी चाहिए ।" मैंने कहा, "हे राम ! यह भी तो खादी ही है, नागपुर मिल की ।" महादेव भाई हंसने लगे और फिर उन्होंने कहा, "खादी तो हाथ की कती, हाथ की बुनी होती है ।" उसी समय अजमेर के अर्जुनलाल जी सेठी आये । मैंने उनसे आग्रह किया, "खादी की साड़ी मंगवा दीजिए न ।" कुछ दिनों बाद जब खादी की साड़ी आयी, तो मुझे ऐसी खुशी हुई, मानो भगवान् ही मिल गया । लेकिन वह साड़ी बहुत मोटी थी । रात को सोते समय ऐसा लगता, मानो, बोरे पर पड़ी हूं । फिर भी मन में पक्का विचार कर लिया कि पहनूँगी तो खादी ही । यह भी सोचती थी कि सीताजी तो वल्कल पहन कर १४ वर्ष जंगल में रहीं, यह तो कपड़ा ही है । कोई चमड़ी थोड़े घिस जायगी । बस, तब से खादी पहनने का पाठ सीखा । शुरू में तो धार्मिक विश्वासों के कारण खादी पहनी, यह मान कर कि खादी का कपड़ा शुद्ध होता है, मिल के कपड़े में चर्बी लगती है, आदि । फिर जब ज्ञान बढ़ा, अनुभव

बढ़ा, तो देखा कि खादी के और भी कई लाभ हैं, यह भूखे की रोटी, अन्धे की लकड़ी और विधवा का सहारा है।

बापू जी से सम्बन्धित यों तो कितने ही प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे मुझे प्रेरणा मिली। किन्तु एक घटना विशेष रूप से याद आती है। मगनलाल गांधी, जमना लाल जी और महादेव भाई,इन तीनों जनों की मृत्यु से बापूजी को जबर्दस्त धक्का पहुंचा था। मगनलाल भाई की मृत्यु बापू के मौन दिन सोमवार को हुई। मौन तोड़ते हुए बापूजी ने मगनलाल की पत्नी से कहा, "संतोष! विधवा तो मैं हुआ हूं, तू नहीं।" और दूसरे ही क्षण वहीं एक तरफ बैठकर 'हरिजन' के लिए लेख लिखने लगे।

११ फरवरी को अचानक जमनालाल जी की मृत्यु हो गई। बापूजी घर पर आये और जब उन्होंने चिर निद्रा में सोये हुए जमनालाल जी के सिर पर हाथ रखा, तो मैं अपने आपको नहीं सम्भाल सकी। मैंने कहा, "बापूजी, ओ, बापूजी, आप पास होते, तो यह कैसे होता? इन्हें अब आप जिन्दा कर दीजिये या भगवान् के दर्शन कराइये।"

बापू बोले—जानकी, तुम्हें अब रोना नहीं है। तुम्हें तो हँसना है और इन बच्चों को हँसाना है। जमनालाल तो जिन्दा ही है। उसकी मृत्यु तो तभी हो सकती है, जब तुम उसके बताये मार्ग पर चलने से मुँह मोड़ो। मैंने बापू के सामने सती होने की इच्छा रखी। बापू बोले, "स्त्री शरीर को क्यों जलाये? वह तो तुच्छ है, मिट्टी है। सच्चा सतीत्व तो यही है कि तुम अपनी सारी बुराइयों को चिता में होम कर दो। फिर जो बचेगा, वह शुद्ध कंचन होगा, उसे कैसे जलाया जा सकता है? वह तो कृष्णार्पण ही किया जा सकता है।" उस समय मैंने बापू का एक दूसरा ही रूप देखा। जमनालाल जी को बापू ने अपना पाँचवाँ पुत्र माना था। उसी पाँचवें पुत्र की मृत्यु पर बापूजी इतने नपे-तुले-गम्भीर वाक्य बोल रहे थे। कितना धैर्य मिला मुझे उनके वाक्यों से। मैं तो बस यह कर चुप हो गयी कि आज से मैं और मेरा सब कुछ कृष्णार्पण।

(साभार, गांधी जी के संस्मरण से)

अहंकार और तृष्णा

—कैप्टेन एस. एम. चन्द्रा

ईसाई और इस्लाम धर्म का विश्वास है कि ईश्वर ने जब सृष्टि-रचना की तो सर्व-प्रथम अग्नि से देवताओं का निर्माण किया। उनके राजा का नाम था शैतान। यह ईश्वर का परम भक्त था, सदैव उपासना, आराधना और दण्डवत-प्रणाम में लीन रहता था। इसके उपरान्त ईश्वर ने मिट्टी से मनुष्य का निर्माण किया, उसको अपना प्रतिरूप बनाया। उसको देख कर वे परम प्रसन्न हुए और उसमें अपनी आत्मा का अंश फूंक दिया। तदन्तर शैतान को आदेश दिया कि वह उनकी इस प्रतिमूर्ति को प्रणाम करे।

शैतान ने सोचा कि मैं तो अग्नि-पुत्र, परम पवित्र हूं, मैं कैसे अस्पृश्य मृत्तिका-मूर्ति, नापाक मिट्टी के पुतले को नमन करूँ। यह अहंकार ही उसके पतन का कारण हुआ और वह सदैव के लिए नरकधाम को चला गया। इसीलिए कहा जाता है कि—

गया शैतान मारा एक
सिजदे के न करने से,
अगर लाखों बरस सिजदे में
सर मारा तो क्या मारा ?
न मारा आपको जो खाक
हो अकसीर बन जाता,
किसी बेदाद बेकस को
अगर मारा तो क्या मारा ?

अर्थात् अहंकार का नाश करो और अहिंसा का पालन करो। शैतान आराधना, उपासना सब कुछ करता था। वह चाहे उसका शौक था, या शेखी अथवा स्वभाव; सम्भव है सभी कुछ रहा हो। यदि नहीं थी तो उसमें केवल श्रद्धा-भक्ति नहीं थी। ईश्वर की आज्ञा न मानना ही इसका प्रमाण है। भक्ति का मूल लक्षण है 'अहं' का अभाव। अहंकार और भक्ति का साथ नहीं। परन्तु इसकी वास्तविकता का ज्ञान कठिनाई से होता है। प्रयास भक्त का कर्तव्य है और प्राप्ति दयामय की कृपा।

अहंकार क्रोध का मूल है और पतन का कारण। अहं का अभाव ही मुक्ति है। 'खुदी ने ख़ुदा से जुदा कर दिया, ख़ुदी जब गई तब ख़ुदी ही ख़ुदा।' इसीलिए भगवान् के सहस्र नामों में एक नाम 'दर्प-हारी' भी है। भगवान् भक्त के अहंकार का नाश करने वाले हैं। हिन्दू-धर्म में भी इसका एक उदाहरण नारद जी का है।

एक समय नारद जी को अपनी भक्ति का अहंकार हो गया। भगवान् शंकर ने उसको विनोदपूर्ण, रहस्य-मय रीति से विदीर्ण करके नारद जी को अहंकार से सदैव के लिए मुक्त कर दिया।

अभिमान के कारण ही शैतान को नरक जाना पड़ा और मनुष्य को ईश्वर ने स्वर्गोपवन में स्वच्छन्द विचरण के लिए छोड़ दिया, जहाँ वह आनन्दमय जीवन-यापन करने लगा। उसको आज्ञा थी कि केवल एक फल को छोड़कर वह सभी कुछ भोग सकता है। प्रति सन्ध्या वह ईश्वर के सम्मुख उपस्थित होता था और सुख से रहता था। इस फल को ईसाई लोग सेब कहते हैं और मुसलमान गेंहूं का दाना बताते हैं।

नरक में भेजे जाने के कारण तभी से मनुष्य के प्रति शैतान की वैर-भावना है। उसने बदला लेने के विचार से एक दिन मनुष्य को उस वर्जित फल को खाने के लिए प्रोत्साहित किया। मनुष्य तृष्णा का संवरण न कर सका और उसने वह वर्जित फल खा लिया। फल खाते ही उसको भान हुआ कि वह नग्न है और यह बात अशोभनीय है। इसी-लिए उस दिन सन्ध्या समय वह ईश्वर के सम्मुख उपस्थित नहीं हुआ। तृष्णा तथा आज्ञा-उल्लङ्घन का समस्त रहस्योद्‌घाटन हो गया। भेद प्रकट होते ही उसे संसार में भेज दिया गया। तब से वह निरन्तर अपने अपराध का दण्ड भोग रहा है। आजतक यह प्रथा चली आ रही है कि जब कोई मनुष्य कोई बड़ा अक्षम्य अपराध करता है तो लोग कहते हैं कि उस पर शैतान सवार है। इस निर्मूल समाधान की वास्तविकता एक कवि ने इस प्रकार की है—

क्या हंसी आती है मुझको
हज़रते इन्सान पर
कारे-बद तो ख़ुद करें,
लानत करें शैतान पर।

यह ऐसे ही है जैसे चलनी में दूध दुहे और भाग्य को दोष दे। आवश्यक तो यह है कि प्रलोभन का संवरण किया जाय। शैतान को दोष देना ही उपयुक्त नहीं है। मन-

मोदक से भूख नहीं मिटती। सौ वर्ष तक भी हलवा-हलवा कहने से न मुँह मीठा होगा न भूख की तृप्ति।

तृष्णा के कारण इष्ट, अनिष्ट अथवा हेय, उपादेय के भेद-भाव का लोप हो जाता है। जिससे मनुष्य तीव्रगति से पतन की ओर अग्रसर होता है।

प्रतिष्ठा अथवा सम्मान की तृष्णा ही अहंकार को पोषित करती है, जिसके खण्डित होने पर क्रोध उत्पन्न होता है और वास्तविकता के अभाव में विज्ञापन की तृष्णा ही दम्भ अथवा मिथ्याचार को जन्म देती है। इसीलिए लोभ पाप का बाप कहलाता है, जो सभी भांति उपयुक्त है।

अहंकार के फल का शैतान और तृष्णा के फल का मनुष्य देदीप्य-मान उदाहरण है।

समस्त दोषों का मूल कामनापूर्ति का प्रलोभन है। अपने जाने हुए दोष को बनाये रखने की रुचि में भी कामनापूर्ति का सुख ही हेतु है। यह नियम है कि जाने हुए दोष को अपना लेने पर व्यक्ति अपनी दृष्टि में भी अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। जो अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं रह जाता, वही दूसरों से आदर पाने की मिथ्या आशा करता है और उसके लिए अपने दोष को छिपाता है। यद्यपि दोष रहते हुए दोष छिपाया नहीं जा सकता, परन्तु अनादर के भय से भयभीत होकर एक दोष को छिपाने के लिए अनेक दोष करने लगता है। ज्यों-ज्यों दोष करता जाता है, त्यों-त्यों अनादर का भय स्वतः बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों अनादर का भय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों असत् जानकर भी उसे प्रकाशित नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिससे एकता मिट जाती है, जिसके मिटते ही संघर्ष उत्पन्न होता हैं, जो विनाश का मूल है।

(चित्तशुद्धि से)

मन, मैं, माया और मायापति

—साधक मनोरंजन

मन न बुरा अथवा भला,
मन न ऊँच वा नीच ।
मन अपने मन का नहीं,
मन 'मैं'-माया बीच ॥

एक ओर 'मैं' खींचता,
माया दूजी ओर ।
होती है रस्साकशी,
लगा रहे हैं जोर ॥

माया तो मायाविनी,
सबको रही लुभाय ।
मन की कौन कहे स्वयं,
मुझे खींच ले जाय ॥

मायाविनि के सामने,
मेरो कछु न बसाय ।
मायापति की कृपा बिनु,
सूझे न आन उपाय ॥

संत-पत्रावली

(१)

गीता भवन
१५-५-७०

स्नेहमयी भक्तिमती,

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। देहातीत जीवन ही तुम्हारा अपना स्वरूप है। इतना ही नहीं, सदैव तुम्हीं में तुम्हारे अपने सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु मौजूद हैं। तुम सदैव उन्हीं की प्रीति होकर उन्हीं में नित्य वास करो, यही मेरी सद्-भावना है। सब कुछ उन्हीं का है और तुम सदैव उनमें और वे तुम में ही हैं। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। किसी सन्त ने कितना अच्छा कहा है:—

यह जल्वा क्या है अजब अनोखा,
कि राम मुझमें मैं राम में हूँ।

अपने में अपने प्यारे हैं और उन्हीं के एक अंशमात्र में सारी सृष्टि है।

अर्जो समा कहाँ तेरी वसतको पा सके,
मेरा ही दिल है कि जहाँ तू समा सके।

अर्थात् जमीन और आसमान में तुम नहीं समा सकते, केवल प्रेमियों के दिल में ही स्थान पा सकते हो। सद्गुरु वाक्य है:

जो दिल देवे सो दिलदर को पावे,
जीते जी मर जाय अमर हो जाये।

अर्थात् जिसने यह अनुभव किया कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा किसी पर कोई अधिकार नहीं है, जिसने इस वास्तविकता को अपनाया, उसी ने जीवन ही में मृत्यु का अनुभव कर अमर पद पाया। संसार से सच्ची निराशा आ जाने पर मन सब ओर से स्वतः हट जाता है और अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर सदा-सदा के लिए आनन्द-विभोर हो जाता है। यह जीवन का सत्य है। प्रत्येक दशा में चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता, एवं मन में स्थिरता रहनी चाहिये। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से यह एक प्रकार की चिकित्सा है। असह्य वेदना होने पर भी भगवान की कृपा से आन्तरिक प्रसन्नता रह सकती है। रोग भी तो एक प्राकृतिक तप ही है और कुछ नहीं। रोगावस्था में अधीर कभी नहीं होना चाहिए। प्रेमी जन तो वेदना में भी अपने प्यारे को ही

देखते हैं। उनकी दृष्टि में किसी और का अस्तित्व ही नहीं है। उनके लिए प्रत्येक घटना अपने प्यारे की लीला है और कुछ नहीं। वे लीला देखते हैं, पूजा करते हैं और प्रेम की आवश्यकता ही उनकी वास्तविक मांग रह जाती है, जिसे प्रेमास्पद अवश्य पूरी करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। जिन्होंने उनके अस्तित्व को, महत्त्व को एवं अपनत्व को अपनाया, वे सभी उनके होकर उनके प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो गये। यह प्रभु विश्वासियों का अनुभव है। सर्वसमर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आपको अपनी प्रियता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा

....

(२)

धनवाद

१८-१२-७०

मेरे निज स्वरूप प्रभु विश्वासी परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

सर्वसमर्थ प्रभु अद्वितीय हैं। सदैव सर्वत्र सभी के होने से अपने में अभी हैं और अपने हैं। जो अभी हैं उनको पाने के लिए भविष्य की आशा बाधक है। जो अपने में ही हैं उन्हें कहीं अन्यत्र खोजना भूल है। अपने होने से अपने को स्वभाव से प्रिय होना चाहिए। जिसका कोई प्रिय है उसके जीवन में नीरसता की गंध भी नहीं रहती, जिसके न रहने से काम, अर्थात् दृश्य का आकर्षण शेष नहीं रहता। काम का नाश होते ही देहाभिमान स्वतः गल जाता है और फिर साधक तीनों शरीरों से असङ्ग होकर अपने से अपने प्रेमास्पद को पा जाता है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है। शरणागत का शरीर, परिवार एवं विश्व से लेशमात्र भी सम्वन्ध नहीं रहता, क्योंकि वह सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु का ही होकर रहता है और सब कुछ प्रभु का ही जानता है। संसार में उसका अपना कुछ नहीं है। आस्था-श्रद्धा-विश्वास पूर्वक उसने प्यारे प्रभु को ही अपना करके स्वीकार किया है। यह वास्तविकता वेदवाणी तथा गुरुवाक्य से सिद्ध है। इसमें विकल्प करना भारी भूल है, जिसका प्रभु-विश्वासी साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

ज्ञान के प्रकाश में इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से सृष्टि प्रतीत होती है। पर सतत परिवर्तन के अतिरिक्त सृष्टि का कोई अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। जिसका स्वतन्त्र अस्ति-

त्व सिद्ध नहीं है उसमें सजग साधक ममता नहीं करते, अर्थात् यह भलीभाँति जान लेते हैं कि संसार में मेरा कुछ नहीं है। निर्मम होने मात्र से ही साधक में निष्कामता एवं असङ्ग होने की सामर्थ्य आ जाती है। फिर जीवन निर्विकारता, शांति तथा स्वाधीनता से अभिन्न हो जाता है। पर यह भी साधना ही है, साध्य नहीं है। सजग साधक निर्विकारता, चिर शान्ति एवं स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होता, कारण कि उसकी वास्तविक माँग तो प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य-विहार में प्रवेश पाने की है। इस दृष्टि से निर्विकारता, चिर शान्ति एवं स्वाधीनता भी साधना ही है। साधना साधन-तत्त्व से अभिन्न होती है। साधन-तत्त्व ही साधक का जीवन है, क्योंकि साध्य की अगाध प्रियता ही साधन-तत्त्व है, जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। यह भलीभाँति अनुभव कर लेना चाहिए कि निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता आदि से साधक के सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है। दुःख-निवृत्ति विकास का आरम्भ है, अन्त नहीं। उसके होने पर ही साधक में अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः उदारता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि प्यारे प्रभु परम उदार, परम स्वतन्त्र एवं प्रेम से भरपूर हैं। ज्ञान का प्रकाश हमें स्वाधीनता प्रदान करता है और हम आत्मीय सम्बन्ध के अधिकारी हो जाते हैं।

प्रभु अपने में हैं, अपने हैं, इस महामन्त्र को अपनाने से ही प्रियता जागृत होती है। प्रियता प्रेमास्पद का स्वभाव और प्रेमी का जीवन है। ज्ञान के प्रकाश में हम जीवन के सत्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रेम-तत्त्व के विना जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी नहीं होता; इस कारण यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि अद्वितीय सर्व-समर्थ प्रभु सदैव अपने ही में हैं। साधक साध्य को अपने ही में पा सकता है। उसके लिए उसे किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। इतना ही नहीं, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की भी उसे प्रिय-मिलन के लिए आवश्यकता नहीं है। प्रिय-मिलन की उत्कट लालसा ही वास्तविक साधना है। साध्य स्वतः साधक को अपनाता है। यह अत्यन्त गोपनीन तथ्य है। भक्त और भगवान की कृपा से ही यह रहस्य स्पष्ट होता है। आवश्यकता होने पर भक्त और भगवान की कृपा स्वतः होती है। यह प्रभु-निर्भर साधकों का अनुभव है।

ओम् आनन्द

तुम्हारा

....

साधकोपयोगी बातें

असत् और उसका त्याग

* श्री जीवनराम जी

[जैसा मैंने सुना और समझा]

प्रश्न–अपना जाना हुआ असत् क्या है और उसका त्याग कैसे हो ?

उत्तर—पाप, भोग, दोष और कामना, यह सभी अपना जाना हुआ असत् है। इसके त्याग का उपाय है कि असत् से प्राप्त होने वाले झूठे सुख का तो अपने जीवन में प्रलोभन न आने दे और असत् के दुःखद और भयङ्कर परिणाम पर अपनी दृष्टि टिका ले, तो मनुष्य अपने जाने हुए असत् का बड़ी सुगमता पूर्वक त्याग कर सकता है। इसमें धन, बल, विद्या, बुद्धि तथा किसी परिस्थिति विशेष की जरूरत नहीं है। असत् का त्याग श्रम से साध्य नहीं है। यह तो निर्णय-साध्य है, इसीलिए इसको वर्तमान में ही त्यागने की बात कही जा सकती है।

प्रश्न—असत् से सुख की प्राप्ति होती है क्या ?

उत्तर—हाँ, इससे क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है; जैसे कोई झूठ बोला और उसे धन मिल गया अथवा किसी स्त्री की तरफ देखा, नेत्रों को सुख मिला; किसी की मिठाई चुराकर खाई, बहुत मजा आया, इत्यादि। इस प्रकार असत् के द्वारा सुख मिला और उसके प्रलोभन में फँस गये, तो फिर असत् का त्याग कभी नहीं कर पायेंगे; परन्तु असत् का परिणाम तो नरकादि दुःखों का देने वाला भयंकर ही होगा। अतः हम उस भयङ्कर परिणाम पर अपनी दृष्टि टिकाए रखें तभी असत् का त्याग सुगमता पूर्वक कर सकेंगे, जैसे हम विष के भयंकर परिणाम को जानते हैं, तो विष मिली मिठाई कितनी ही स्वादिष्ट

हो और हम कितने ही भूखे हों तथा हमें कोई कितना ही लालच दे, परन्तु हम विष मिली मिठाई खाना स्वीकार नहीं कर सकते। इसी तरह असत् के परिणाम को जान लेने पर असत् का त्याग कर सकेंगे।

इस पर कोई कहे कि असत् के परिणाम पर दृष्टि कैसे टिके, तो कहना होगा कि मनुष्य भूत काल में की हुई बुराई पर तो पश्चाताप करले, भविष्य में बुराई न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करले और अपनी निर्दोषता को धैर्य के साथ सुरक्षित बनाये रखे, तो मनुष्य के हृदय में एक दिव्य प्रकाश होगा, जिससे संसार की असलियत का ज्ञान होगा और धारणा-शक्ति सजीव होगी। तब साधक में असत् के परिणाम पर दृष्टि टिकाने की योग्यता आयेगी और असत् का त्याग सुलभ हो जायगा।

देखो, प्रभु ने भाव-शक्ति और विवेक-शक्ति मानवमात्र को दी है। यदि हम विवेक-शक्ति द्वारा, संसार की असलियत को जान लें और भाव-शक्ति द्वारा सुने हुए प्रभु की आस्था करलें, तो भी असत् का त्याग करने की सामर्थ्य आ जावे, परन्तु हम विवेक-शक्ति तो पदार्थों की जानकारी में लगाते हैं और भाव-शक्ति द्वारा पदार्थों का विश्वास कर लेते हैं। तो बताओ इस दशा में असत् का त्याग कैसे हो, परन्तु इस अपनी बिगड़ी हुई दशा का सुधार हो सकता है। उसका उपाय है कि हम बुराई तो किसी हालत में भी न करें और अपने आप होने वाली भलाई का फल न चाहें, अभिमान न करें और प्रभु का आश्रय ग्रहण करलें, तो हमारी दशा भी सुधर जावे, असत् का त्याग भी हो जावे और हमारा कल्याण भी हो जावे।

साधक को अपनी जगह पर सही बना रहना चाहिए। यदि हम अपनी जगह पर सही बने रहें, तो चाहे सारा जमाना गलत हो जाय, हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। इसी तरह सारा जमाना सही बना रहे, परन्तु हम गलत हो जावें, तो निश्चय दुर्गति होगी। हमारी गलती से जो हमारी दुर्गति होगी, उसको सारा जमाना भी मिलकर नहीं रोक सकेगा। इसलिए साधक को हर हालत में अपनी जगह पर सही बना रहना चाहिए। देखो, सत्युग सबसे अच्छा युग है और उसमें प्रायः सभी आदमी सात्त्विक होते हैं, परन्तु सत्युग में भी गलत करने वालों की तो दुर्गति ही होती है। इसी तरह कलियुग सबसे बुरा युग है, इस में प्रायः सभी मनुष्य अधर्मी होते हैं, परन्तु

कलियुग में भी अनेकों भक्त ऐसे हुएँ हैं जिनके भगवान स्वयं आकर सेवक बने, तो बताओ फिर मनुष्य का कल्याण युग पर निर्भर हुआ या अपनी करनी पर। कहना पड़ेगा कि कल्याण तो अपनी करनी से ही होता है, इसलिए कल्याण-कामी साधक को किसी हालत में भी गलत काम नहीं करना चाहिए। यदि गलत काम करेगा, तो दुर्गति भी होगी ही, फिर उसका दोष जमाने के सिर मँढ़ने से भी छुटकारा नहीं होगा। देखो कल्याणकामी साधकों के लिए कलियुग तो सबसे उत्तम युग है, क्योंकि और युगों में भारी तप तथा बड़े-बड़े यज्ञ करने से जो गति होती थी, वह कलियुग में केवल प्रभु का नाम लेने मात्र से मिल जाती है और दूसरे युगों में सैकड़ों वर्ष साधन करने पर जो लाभ होता था, वह कलियुग में एक मास में ही हो जाता है। तो बताओ इससे बढ़कर सुविधाह में क्या मिलेगी। परन्तु कलियुग में नर-तन पाकर भी जो मनुष्य अपना कल्याण नहीं करता वह अन्त में सिर धुन-धुन कर रोता है, पछताता है और काल-कर्म तथा ईश्वर को मिथ्या दोष लगाता है, परन्तु "फिर पछताये होत का, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत" अतः भाई, जब तक मनुष्य-शरीर पास है, तब तक ही अपने कल्याण का सावधानी पूर्वक साधन करके कल्याण की प्राप्ति कर लेनी चाहिए। भाई, बिना कल्याण की प्राप्ति किये ही यह मनुष्य-शरीर हाथ से निकल गया, तो इस हानि की पूर्ति किसी प्रकार नहीं होगी।

देखो, जिन भोगों के पीछे पागल होकर मनुष्य अपने कल्याण से वंचित रह जाता है, वह भोग तो प्राणी को सभी योनियों में प्राप्त हो जावेंगे, परन्तु अपने कल्याण की प्राप्ति तो इसी शरीर में हो सकती है, इसलिए अपने कल्याण की प्राप्ति करना मनुष्य का परम कर्तव्य है इसके लिए मनुष्य को अपनी जगह पर सही बना रहना होगा। सही बना रहना क्या है? आप तो बुराई करें नहीं और दूसरों के द्वारा की जाने वाली बुराई का अपने पर असर न होने दें, उसको क्षमा करदें और बदले में भलाई करें, यही अपनी जगह पर सही बना रहना है। इसी से भगवान का प्यार मिलता है और कल्याण होता है।

सोऽहम्

--साधक मनोरंजन

साँस-साँस में किसका स्वर है ?
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।
कौन पहरुआ आठ पहर है ?
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।

कौन काम से कभी न थकता ?
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।
किसके बिना न नर रह सकता ?
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।

एक ओम् के दोनों स्वर हैं,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।
वही ओम् बाहर भीतर है,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।

उसी ओम् के गुन हम गाएं,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।
रोम रोम से ओम् जगाएं,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।

'सो' आता है—'हम' जाता है,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।
'सो' 'हम' बनने को आता है,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।

'हम' 'सो' बनने को जाता है,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।
'सो' पावन करने आता है,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।

'हम' पावन होने जाता है,
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।
जो 'सो' सो 'हम' जो 'हम' सो 'सो',
सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् सोऽहम् ।

सत्य-अहिंसा और मानव

★ श्री हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

जैसे ही मानव आँख खोलता है, किसी न किसी रूप में सत्य के प्रति जिज्ञासा भी उसमें जाग उठती है।

समय के साथ शनैः-शनैः यह जिज्ञासा बढ़ती है, तीव्र होती है—पहले-पहले रूप-रूप में, पीछे-पीछे विविधरूपता भी एक रूप होती जाती है।

बढ़ते २ एक दिन यह जिज्ञासा छटपटाहट में बदल जाती है—निरन्तर छटपटाहट में। इस अवस्था में मानव को कुछ नहीं सुहाता। लोक-परलोक की समस्त सम्पदा फूटी आँखों नहीं भाती। एकमात्र केवल सत्य-सत्य की रट लग जाती है और मानव उसके बिना रह नहीं पाता, रहा ही नहीं जाता उससे। कमर कस, झोला उठा, सिर और धड़ की बाजी लगा, वह सत्य की खोज में निकल पड़ता है।

घर छोड़कर खोज में निकलने पर बहुत कुछ सामने आता है। काँटे चुभते हैं। ठोकरें लगती हैं। प्रलोभन लुभाते हैं। घर याद आता है। विघ्न-बाधाओं का ठिकाना नहीं रहता। हो सकता है—ले देकर पाथेय-रूप में साथ लिया एकमात्र झोला भी कहीं छूट जाय, छोड़ना पड़ जाय।

काँटों से हिम्मत न हारकर ठोकरों से साहस न छोड़कर, प्रलोभनों में न अटक कर, घर के लिए न भटक कर, झोले के कारण ढीले न पड़ कर, जो पथ पर ही बना रहा जाय—उसी लगन और गति से, सिर और धड़ की बाजी पूर्ववत् लगाये-लगाये, तो एक दिन स्वर्णिम वेला आती है, जबकि अहिंसा आकर मानव का हाथ पकड़ लेती है और मधु-मधुर स्वर में उसके कान में कहती है—

"चिन्ता न कर। मैं आ गई। मुझे अपना। सत्य का साक्षात्कार होगा।"

अन्धा क्या चाहे ?—दो आँखें। अहिंसा से लक्ष्य-प्राप्ति का आश्वासन पाकर मानव के मन की कली-कली खिल जाती है। वह दौड़-भागकर उसे सिर-आँखों पर लेता है—पूजता है।

सत्य के लिए पागल, विकट खोजी मानव और सबके प्रति आत्मीयता-विभोर, सहज, सहृदय अहिंसा—ये दोनों परस्पर एक-दूसरे को वरण कर लेते हैं और वरण फल लाता है।

मानव और अहिंसा जनक-जननी के पद पर अधिष्ठित होकर, दुनिया जिनके वल पर फलती-फूलती है, फल-फूल रही है, ऐसे समस्त नीति-धर्मों को वे जन्म देते हैं, उनका लालन-पालन करते हैं।

अपने मन की खातिर, मानव अहिंसा का मन रखता है। अहिंसा को साधते-साधते वह स्वयं सधता है, इस रखने-सधने में अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, स्वाद-राहित्य, आदि अनेकानेक पर मूलतः एक ही नीति-धर्म आविष्कृत-परिष्कृत होता चलता है।

स्वयं-सृजित इन नीति-धर्मों के चक्र पर चढ़कर मानव दिन-प्रति-दिन अपने प्रति परुष, कठोर और औरों के प्रति मृदु तथा कोमल होता जाता है।

नीति-धर्मों का यह चक्र सावन का हिंडोला होता है। वह घूम-घूम कर झुलाता है, रस के झोंके देता हुआ—निपट रस-ही-रस के।

औरों के प्रति मृदुता कोमलता तो असीम प्रसन्नता-प्रदायिनी है ही, परन्तु अपने प्रति मानव की वह परुषता-कठोरता भी इतनी आह्लाद-कर होती है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। और क्यों न हो वह ! वह तो समूचे समाज-शरीर की पीड़ा-मुक्ति के लिए—प्रकारान्तर से अपने ही लिए अपने किसी अङ्ग विशेष में शल्य-क्रिया की उस पीड़ा का सहन करना भर है, जिसे परिणाम में सुख एवं चैन लाना है।

बात यह है कि अहिंसा अपने-पराये की छाया भी नहीं छोड़ती, उसे जड़मूल से मिटाकर ही रहती है। फिर उसकी छत्रच्छाया में परुषता-कठोरता भी मृदुता-कोमलता क्यों न प्रतीत हो।

तो अहिंसा के अमृत से छकित, महिमा से महिमान्वित, गरिमा से गौरवान्वित और उसके चमत्कार से चकित-चमत्कृत हुआ मानव एक दिन सोचने लगता है—विचारता रह जाता है कि कहीं यह अहिंसा ही तो सत्य-स्वरूपा नहीं है।

दिन बीतते जाते हैं और विचार में परिपक्वता एवं प्रगाढ़ता आती जाती है।

फिर किसी भी दिन, किसी भी क्षण वह हो जाता है, जिसे होना ही होता है—न, न, जो हुआ ही होता है। हाँ, परिपक्वता एवं प्रगाढ़ता की सीमा पर पहुँचा हुआ विचार, विचार न रहकर अनुभव बन जाता है—सहज, परम, चरम !! मानव अहिंसा में सत्य-साक्षात्कार कर लेता है। उसका जीवन कृतार्थ हो जाता है।

मानव के आश्चर्य को असीम और उसके आह्लाद को अनंत करता हुआ कुछ और भी होता है उस विलक्षण क्षण में।

उसे—उस अहिंसा से अभिन्न हुए मानव को सत्यरूप में आत्म-साक्षात्कार—स्वयं अपना ही साक्षात्कार—होता है और इस तरह उसकी जीवन-कृतार्थता को चार चाँद लग जाते हैं।

———

अन्याय का अन्त न्याय तथा प्रेम से ही हो सकता है। अन्याय की प्रतिक्रिया यदि अन्याय पूर्वक की जाय तो अन्याय का ही आदान-प्रदान होता रहता है, जो स्थायी संघर्ष तथा भेद का पोषण करता है। इस कारण अन्याय का उत्तर अन्याय से नहीं देना है; किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि अपने प्रति अन्याय करने वालों में अपने से वाह्य बल अधिक है, इस कारण उसके मन की बात पूरी करने के लिए अपने मन को दबावें अथवा बदलदें। अन्याय-कर्त्ता कितना ही सबल हो उससे भयभीत नहीं होना है। उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करना है, यहां तक कि प्रसन्नता और धीरजपूर्वक अपने प्राणों तक की आहुति देकर अन्याय की अस्वीकृति का परिचय देना है। इस दृष्टि से अन्याय का विरोध तो करना है किन्तु किसी के प्रति अन्याय नहीं करना है।

(दर्शन और नीति से)

एकान्त का यथार्थ दर्शन

—साधुवेष में एक पथिक

हमें यह दिखाया गया है कि जो मनुष्य कभी अपने घरों, ग्रामों, नगरों, बाजारों और व्यापारों में लोभवश, मोहवश और कामनावश धन-संयोग, सुखोपभोग और स्त्री-पुत्र-परिवार के लिए भागता फिरता है, वही जब परिणाम-दर्शी, दूर-दर्शी होता है, तब परमेश्वर को पाने के लिए अथवा शान्ति–मुक्ति–भक्ति–आनन्द पाने के लिए एकान्त की खोज में तीर्थों, मन्दिरों, पहाड़ों, जंगलों और गुफाओं की ओर चल पड़ता है। परिणामदर्शी गुरुजनों का निर्णय है कि जिस मनुष्य के मन में काम-ही-काम है, वहाँ उसे विश्राम नहीं मिलता। जहाँ काम का अन्त होता है, वहीं विश्राम है। सुखासक्तिवश संसार की संगति में काम ही काम है। संसार से निराश होने पर, भागदौड़ के स्थिर होने पर विश्राम-ही-विश्राम है। काम भोग के लिए है, विश्राम पूर्ण योग के लिए है। सारी भागदौड़ अहंकार के साथ रहने वाली वासना, तृष्णा और कामना की पूर्ति के लिए ही है। यह अहंकार ही अनेक प्रकार के वेष बनाता रहता है। यही मोही, लोभी, अभिमानी, कामी, दुखी-सुखी और स्वार्थी तथा विचारक, उपदेशक, विरागी, त्यागी और संन्यासी बनाता है। इस अहंकार को अपनी संकल्प-पूर्ति, तृप्ति और संतुष्टि के लिए स्वभाव बदलने में अत्यन्त कठिनता होती है, पर वेष, नाम और स्थान बदलने में अधिक देर नहीं लगती।

इस अहंकार को अपने लिए कोई न कोई संग चाहिए; सफलता के लिए सम्बन्ध चाहिए और अपनी पुष्टि के लिए देह के स्तर पर तथा मनोमय और विज्ञानमय कोष में संग्रह चाहिए। अहंकार को ही धन चाहिए, मन के अनुकूल भोग चाहिए, प्रतिकूलताओं का दुःख आने पर शान्ति चाहिए और बन्धनों से मोक्ष चाहिए। अहंकार को ही भक्ति-मुक्ति-शान्ति-सिद्धि के लिए सरल साधन चाहिए तथा साधना के लिए एकान्त स्थान चाहिए। गुरु विवेक ने हमें सावधान किया है कि अहंकार अपने को

खोकर अज्ञान में ही संसार का सब कुछ चाहता है । यह अज्ञान में धन, मान और भोग के साथ महत्त्वाकांक्षी तो है ही, यह एकान्त, शान्ति, मुक्ति और सिद्धि भी अज्ञान में ही चाहता है ।

एक नगर में संत सम्मेलन का आयोजन था; उसमें मैं भी आमंत्रित था । सम्मेलन-स्थल पर पहुँचते ही मैंने एकान्त स्थान की खोज की । प्रबन्धकों ने मुझे एक भवन दिखाया और कहा कि यह नितान्त खाली है, इसमें कोई नहीं रहता है; मैं उस भवन के एक कक्ष में ठहर गया । फिर तो जो भी आमन्त्रित साधु, विद्वान् और कथा-व्यास आते उनको उसी भवन के एकान्त होने का परिचय दिया जाता और उसी में सबको ठहराया जाता । रात्रि तक वह भवन अनेक एकान्तवासियों से भर गया । जहाँ शान्त वातावरण माना था, वहीं भिन्न-भिन्न चर्चाओं की ध्वनि हो रही थी । कहीं धूप-बत्ती तो कहीं बीड़ी-सिगरेट का सम्मेलन चल रहा था; वहीं पर मैं एकान्त की कल्पना में अनेकता का भोग देख रहा था । प्रश्न बन रहा था कि क्या यही एकान्त है ?

स्पष्ट है कि हम अनेक साधक एकान्त की खोज में स्वयं को ही खोये रहते हैं । जब अपनी मान्यता के अनुसार एकान्त को खोज लेते हैं, तब एकान्त के भोगी बन जाते हैं; पर एकान्त के सहारे सत्य-शान्ति के योगी नहीं हो पाते । जो स्वयं को ही खोये हुए हैं, उनके लिए परमात्मा की खोज और परमात्मा को खोजने के लिए एकान्त की खोज तभी सार्थक होती है, जब उन्हें अपने खोये होने का पता लग जाता है ।

मैं गुरु विवेक का आश्रय लेकर देख रहा था कि उपर्युक्त एकान्त में अनेक की भीड़ होने पर जिसके भीतर जिस गुण या दोष की प्रधानता थी, उसमें वही प्रकट हो रहा था । किसी के भीतर स्वादिष्ट पक्वान्न-मिष्टान्न का लोभ जाग्रत हो रहा था, कोई अपने अनुकूल सेवा न पाकर क्रोध कर रहा था, उसी क्रोधी के समक्ष कोई हाथ जोड़ कर क्षमा-याचना कर रहा था । किसी के भीतर से प्रपञ्च-चर्चा निकल रही थी तो किसी के भीतर से सत्-चर्चा, परमार्थ-चर्चा मुखरित हो रही थी । जो ऊपर होता है, वह तो सदा ही दीखता है, पर जो भीतर होता है, वह कभी-कभी सङ्ग से प्रकट होता है । प्रायः व्यवहार में सरलता, नम्रता, मधुरता, प्रीति, उदारता ऊपर दीखती रहती है, पर लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, काम, दम्भ और अभिमान आदि विकार भीतर रहते हैं तथा कभी-कभी सङ्ग के प्रभाव से प्रकट होते रहते हैं । साधु-संन्यासी-

विरागी-उदासी के त्याग, तप, ज्ञान, ध्यान और वेष आदि ऊपर से तो सभी समय दीखते हैं, भीतर की असाधुता, आसक्ति, ममता, कामना और अहंता आदि सङ्ग से कभी-कभी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। प्रायः भीतर रहने वाली असाधुता साधु के बाह्य वेष के अन्तराल में बहुत दूर तक छिपी रहती है; भीतर का अशुभ प्रायः बाह्य शुभ प्रदर्शन से ढका रहता है; यही तो कारण है कि असत्य जहाँ-तहाँ सत्य की आकृति सजा लेता है, भीतर का अहङ्कार विनय की मुद्रा बना लेता है।

सङ्ग से भीतर छिपा हुआ काम प्रकट होता है और छिपा हुआ क्रोध प्रतिकूलता में प्रकट हो जाता है। साधक सावधान होकर काम-क्रोध से अपने-आपको अलग करते हुए सङ्ग में ही निष्कामतापूर्वक क्षमा-भाव को पूर्ण करता है। मन से सुन-कर माना जाता है; बुद्धियोग द्वारा माने हुए को यथार्थतः जाना जाता और ज्ञान में प्रज्ञा-दृष्टि खुलने पर सत्य का अनुभव किया जाता है। किसी जन-शून्य स्थान को हम एकांत मान लेते हैं। कुछ समय बीतने पर उस एकांत में जो कुछ हम करते हैं और उसके परिणाम के भोक्ता बनते हैं, उसे बुद्धि युक्त होकर जान पाते हैं। बुद्धियोगी जानता है कि उसने वाह्य दृष्टि से जिस स्थान को एकांत जनशून्य माना है, वह केवल देह के लिए भले ही एकांत हो, पर उसके मन में तो कामनाओं, वासनाओं तथा भुक्त-अभुक्त स्मृतियों का कोलाहल होता रहता है। प्रायः जब हम साधना के लिए एकान्त में बैठते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मन इधर-उधर भाग रहा है; पर मन के आने-जाने-भागने की मान्यता अविवेक में है। बुद्धि युक्त होकर निरीक्षण करने से पता लगता है कि जप, सुमिरन और ध्यान करते समय मन में उसकी ही याद आती है, जिस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और घटना से सम्बन्ध है, अथवा उसी की विशेष स्मृति होती है, जिससे राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध है।

जिस प्रकार जिस स्थान में अन्य कोई न हो, मन में खटकने वाला कोई कोलाहल न हो, वह शरीर की दृष्टि से एकान्त स्थान है, उसी प्रकार जब इन्द्रियों के चंचल होने के लिए शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों से सम्बन्ध न हो, तब इन्द्रिय-दृष्टि से एकान्त है। उसी प्रकार जब मन में किसी की स्मृति न आती हो, संकल्प न उठता हो, कोई इच्छा-कामना आघात न करती हो, तभी मन के लिए एकान्त है और जब विचार शान्त हो रहे हों, तो वह शान्त

स्थिति बुद्धि के लिए एकान्त है। अन्त में जब 'मैं' के भीतर 'मेरा' स्फुरित नहीं होता, वही अपने-आपके लिए एकान्त है। जहाँ अनेक नाम-रूपात्मक दृश्य एक अखण्ड तत्त्व में विलीन हो जाते हैं, वहीं एकान्त है, जहाँ समाधि सिद्ध होती है। इस समाधि में सत्य की अनुभूति होती है। एकान्त मानना भोग का साधन बनना है, एकान्त को जानना योग का साधन दीखता है और एकान्त में होना समाधि-सिद्धि का साधन होता है।

(साभार कल्याण से)

———

सत्संग सप्ताह, गिरजापुरी, जिला बहराइच

सूचनार्थ निवेदन है कि ता. २४ दिसम्बर सन् १९७१ से ता. ३० दिसम्बर सन् १९७१ तक गिरजापुरी शाखा सभा की ओर से सत्संग समारोह का आयोजन किया गया है, जिसमें पूज्य श्री स्वामी शरणानन्दजी महाराज तथा भक्तिमती प्रो० देवकी देवीजी ने पधारने की स्वीकृति दे दी है। समस्त सत्संग प्रेमी बन्धुओं, विशेषकर मानव सेवा सङ्घ शाखा सभाओं के सदस्यों से सविनय निवेदन है कि उक्त सत्संग समारोह में पधारने की कृपा करें।

आगन्तुक भाई-बहिनों के ठहरने तथा उनके भोजनादि की उचित व्यवस्था इस शाखा सभा की ओर से रहेगी।

नोट—गिरजापुरी एन० ई० रेलवे के विछिया स्टेशन से ३ किलोमीटर की दूरी पर है। विछिया स्टेशन गोंड़ा से कर्तिया घाट जाने वाली लाइन पर स्थित है। स्टेशन से गिरजापुरी तक आगन्तुक सज्जनों को पहुंचाने का उचित प्रबन्ध रहेगा।

निवेदक—मलखानसिंह अध्यक्ष
गिरजापुरी शाखा सभा, जिला बहराइच।

मानव सेवा संघ-स्थापना दिवस
तथा
श्री गीता जयन्ती समारोह
मानव सेवा संघ आश्रम, वृन्दावन

रविवार दि० २८ नवम्बर १९७१ ई० को उत्सव-समारोह वड़े उत्साहपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ।

सर्वप्रथम प्रा:काल ६ बजे संघ के झण्डे के अभिवादन के वाद, संत कुटी से साधक-परिवार द्वारा प्रभात फेरी आरम्भ हुई और चार वार पूरे आश्रम की परिक्रमा कर तुमुल हर्षपूर्ण वातावरण में समाप्त हुई।

दूसरी बैठक प्रात:काल ९-वजे से १०-३० बजे तक सन्त कुटी में हुई। उसमें श्री कन्हैयालाल दूगड़ भाई जी की मनोमुग्धकारी प्रार्थना और भजन के बाद कार्य आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम श्री अनसूया जी ने गीता के १२ वें अध्याय का सस्वर कण्ठ से पाठ किया जिसको सभी उपस्थित साधकों ने दुहराया। पश्चात् श्री हनुमान प्रसाद जी जलोटे ने श्री भगवद्गीता और संघ-दर्शन के समन्वय पर मार्मिक तथा विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला, जिससे उपस्थित साधकों को बड़ा बल मिला। इसके बाद संघ के भू. पू. प्रधान मंत्री श्री गोविन्द जी ने संघ के प्रतीक की विशद व्याख्या बड़े सुन्दर ढंग से की।

तीसरी बैठक परम भागवत श्री कन्हैयालाल जी दूगड़ के नव-निर्मित भवन में हुई। श्री भक्तमाली जी तथा आचार्य चक्रपाणि जी ने संघ के दर्शन की प्रशंसा की और अपने मधुर प्रवचनों द्वारा सव साधकों को सत्संग की प्रेरणा प्रदान की। १२ बजे मध्याह्न में आश्रम-परिवार तथा अतिथियों का एक साथ प्रीति भोज हुआ।

चौथी बैठक ३।। बजे से ४।। वजे तक सन्त कुटी में हुई। इसमें पूज्य पाद श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज की ऋषिकेश में रिकार्ड की हुई वाणी सुनने को मिली।

पाँचवीं बैठक सायंकाल ६।। वजे से ८ वजे तक सन्त कुटी में हुई। इसमें बाल मन्दिर की २२ वालिकाओं द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। वी. ए. कक्षा की कुमारी गङ्गा और लता का भाषण और कविता उल्लेखनीय हैं। छोटी बालिकाओं ने संघ के ११ नियमों और साधन-सूत्रों की वड़े अच्छे ढङ्ग से आवृत्ति की।

दूसरे दिन आश्रम परिवार द्वारा श्रमदान का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ तथा संघ साहित्य-प्रचार और स्थायी सदस्य बनाने की योजना बनाई गई।

कुमारी मुक्तेश्वरी, प्रधानमंत्री

शोक-समाचार

बड़े दुःख के साथ हमें लिखना पड़ रहा है कि मानव सेवा-संघ आश्रम-परिवार के माननीय सदस्य साधक मनोरंजन प्रसाद सिन्हा का गत ९ नवम्बर, १९७१ को प्रातः ८ बजे देहान्त हो गया। आप जीवन भर रहे तो अंग्रेजी के लब्धप्रतिष्ठ प्राध्यापक, पर सेवा करते रहे अपनी मातृभाषा की। आप हिन्दी, विशेषकर भोजपुरी बोली के यशस्वी कवि थे। स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में इनके भोजपुरी गीतों ने बिहार में जन-जागृति के लिए बड़ा काम किया था, जिसके लिए स्वयं महात्मा गांधी ने भी इनकी सराहना की थी।

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में कुछ दिन प्राध्यापक रहकर आपके जीवन के अधिकांश दिन राजेन्द्र कालेज, छपरा के प्राचार्य-पद पर काम करते हुए बीते। वहाँ से अवसर ग्रहण करके आपने हिन्दी विद्यापीठ, देवघर के कुलपति-पद को भी कुछ दिनों तक सुशोभित किया। अन्त में साधक-जीवन स्वीकार कर, सब मोह-ममता त्याग आप वृन्दावन स्थित मानव सेवा संघ के आश्रम में रहने लगे। कुछ महीने पूर्व ही वे यहाँ से संघ के ही राँची-स्थित आश्रम में चले गये थे। वहीं ७३ वर्ष की अवस्था में आपने शरीर छोड़ा। जीवन-दर्शन के पाठक उनकी साधन-पथ-प्रकाशिनी कविताओं से परिचित हैं ही। इस अङ्क में भी उनकी दो कविताएं दी जा रही हैं।

भगवान से प्रार्थना है कि वे दिवगंत आत्मा को शान्ति तथा उनके दुःखी परिवार, विशेषकर उनकी विधवा पत्नी श्री 'सेवा माता-जी' को यह कठोर आघात सहने का बल प्रदान करें।

पत्रिका के संस्थापक सदस्य

४३२—श्री कैलाश नारायण माथुर	सिरोही
४३३—श्रीमती रुक्मिणी देवी	दिल्ली
४३४—श्रीमती इन्दिरा शंकर	गोरखपुर
४३५—श्रीमती प्रकाशवती अग्रवाल	नई दिल्ली
४३६—डा० श्री गोविन्दराम सक्सैना	कोटा
४३७—कुमारी श्यामा अग्रवाल	मेरठ
४३८—श्रीमती वसन्ती पाण्डे	नैनीताल
४३९—श्रीमती आनन्द भट्ट	हल्दानी
४४०—श्री छत्र सिंह जी	हरजी
४४१—श्री वी० एस० प्रधान	देहली

"जीवन-दर्शन"

संघ का मुख-पत्र

आवश्यक नियम

१—'जीवन-दर्शन' प्रत्येक मास के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित हुआ करेगा। इसका वर्ष १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक रहेगा। बीच में ग्राहक बनने वालों के लिये भी वर्ष १ जनवरी से ही प्रारम्भ होगा।

२—पत्र का उत्तर तथा लेख वापस पाने के लिये आवश्यक डाक-टिकट भेजें। पत्र-व्यवहार करते समय **कृपया अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें।**

३—पता बदलने के लिए एक मास पूर्व लिखना चाहिए।

४—जीवन-दर्शन-सञ्चालन की योजना को सफल बनाने के लिए जो महानुभाव अपने सामर्थ्य के अनुसार १०१), २५१), ५०१) या ११०१) रु० प्रदान करेंगे, वे इसके संस्थापक सदस्य कहलायेंगे। उनकी सेवा में पत्रिका आजीवन भेंट-स्वरूप, नि:शुल्क भेजी जाती रहेगी।

उक्त रकमें एक वर्ष की अवधि में किश्तों में भी पूरी की जा सकती हैं।

५—पत्रिका सम्बन्धी सारा पत्र-व्यवहार निम्नलिखित पते से करना चाहिए।

व्यवस्थापक :
'जीवन-दर्शन' कार्यालय,
मानव सेवा सङ्घ, वृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य : ५ रुपये] [एक प्रति का : ४५ पैसे

मुख्य सम्पादक : हनुमन्तसिंह

License No. 60
Licensed to Post without Pre-Payment.
Regd. No. L-564

मानव सेवा संघ के प्रकाशन

क्रमांक	पुस्तकों के नाम (हिन्दी)	पृष्ठ संख्या	मूल्य
१	सन्त समागम भाग १	२५७	१-५०
२.	सन्त समागम भाग २	३५७	२-००
	दोनों भाग एक साथ सजिल्द	—	४-००
३.	मानव की माँग	२४४	२-००
४.	जीवन दर्शन	३४१	२-५०
५.	चित्त शुद्धि (सजिल्द)	४६०	३-००
६.	साधन तत्त्व	१०४	१-२५
७.	सत्सङ्ग और साधन	९६	१-००
८.	जीवन पथ (छप रहा है)	१४०	१-२५
९.	मानवता के मूल सिद्धान्त	१३४	०-५०
१०.	दर्शन और नीति	१४४	१-५०
११	दुःख का प्रभाव	१२६	१-२५
१२.	मानव सेवा संघ-परिचय	४८	०-१५
१३.	मूक सत्सङ्ग और नित्य योग	२०६	१-७५
१४.	मानव दर्शन	१९०	१-७५
१५.	मङ्गलमय विधान	७०	०-७५
१६.	साधन निधि	१४६	सदुपयोग
१७.	A Saint's Call To Mankind (Cloth Bound)	174	3-00
१८.	A Saint's Call To Mankind (Stiff Board Bound)	174	2-25
१९.	Sadhana-Spotlights by a Saint.	72	1-25

कमीशन के नियम—

१—संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के पूरे सेट पर १२½% प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

२—१० रुपये मूल्य की पुस्तकों पर ५ प्रतिशत।
५० रुपये मूल्य की पुस्तकों पर २० प्रतिशत।
१०० रुपये मूल्य की पुस्तकों पर २५ प्रतिशत।

मुद्रक व प्रकाशक श्री गोविन्दजी, भू. पू. प्रधान मन्त्री, मानव सेवा सङ्घ के लिए हर्ष गुप्त द्वारा राष्ट्रीय प्रेस, डेम्पियर नगर, मथुरा में मुद्रित।